आधुनिक भारत
में
मुस्लिम राजनीतिक विचारक

लेखक
एम० एस० जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर,
इतिहास एवं संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

"शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।"

प्रथम संस्करण : १९७३

मूल्य : १२.००

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२ विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-४

मुद्रक :
जयपुर मॉन प्रिन्टर्स,
मालपाणियों का दरवाजा, चौड़ा रास्ता
जयपुर-२

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्ववि
के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था।
में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं
माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत
न्यूनता के निवारण के लिए "वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली
स्थापना की थी। इस योजना के अन्तर्गत पीछे सन् १९६९ में पांच
प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गई।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के
निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयो
रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृ
का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त
से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं;
इसी क्रम में तैयार करवाई गई है। हमें आशा है कि यह अपने वि
योगदान करेगी।

विषय-सूची

प्राक्कथन

जिस प्रकार आधुनिक भारत के इतिहास में अंग्रेजों की नीति को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन स्रोतों और ग्रन्थों के आधार पर ही अपनी धारणाएँ बनाएं जो अंग्रेज अधिकारियों तथा कूटनीतिज्ञों द्वारा लिखे गए हैं उसी प्रकार भारतीय नेताओं के चिन्तन को समझने के लिए यह परम आवश्यक है कि हम उन नेताओं के भाषणों तथा पत्रों और लेखों के आधार पर ही उनके विचारों का प्रतिपादन करें। नीति-निर्माताओं तथा विचारकों के वास्तविक उद्देश्यों को केवल उन्हीं के लेखों और भाषणों द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है, अन्य व्यक्तियों अथवा आलोचकों द्वारा लिखे गए लेखों में प्रशंसात्मक, आलोचनात्मक अथवा व्यक्तिगत भावनाओं का मिश्रण हो जाता है।

इतिहास के निर्माण में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक तत्त्वों का योगदान महत्त्वपूर्ण तो होता है किन्तु वे तत्त्व किसी भी महत्त्वपूर्ण निर्णय से पूर्व भी विद्यमान रहते हैं और विभिन्न व्यक्तियों के समक्ष पहले से उपस्थित रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में मुख्य प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या वह निर्णय जो एक समय पर वास्तव में लिया गया अथवा वह दिशा जिस ओर किसी समुदाय का विकास हुआ पहले से स्पष्ट थी? यदि नहीं, तब उन परिस्थितियों की निर्णायकता किस प्रकार निश्चित कर सकेंगे? यह ध्यान रखने योग्य बात है कि परिस्थितियाँ और आर्थिक तत्त्वों को किसी दिशा में मोड़ने का निर्णय परिस्थितियाँ स्वयं नहीं करतीं। वास्तविकता यह है कि सामाजिक और आर्थिक तत्त्व मानव समाज के समक्ष प्रत्येक अवसर पर विभिन्न विकल्प प्रस्तुत करते रहते हैं। उन विकल्पों में से कौन-सा विकल्प स्वीकृत हुआ और क्यों? स्वीकृत निर्णय के ज्ञान उपलब्ध हो जाने के पश्चात् भले ही हम इस प्रश्न का उत्तर कुछ सामाजिक और आर्थिक तत्त्वों में ढूंढ लें किन्तु पहले से उस निर्णय की भविष्यवाणी कर पाना अत्यन्त कठिन (प्रायः असम्भव) है। यदि किसी सीमा तक उन सामाजिक और आर्थिक तत्त्वों का जिनके निर्णायक होने की सम्भावना हो सकती है चयन किया भी जा सके तो यह केवल नेताओं के चिन्तन के लक्ष्यों की जानकारी के आधार पर ही सम्भव है। किसी भी समुदाय के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों और नेताओं के चिन्तन का अध्ययन करने से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि वे सामाजिक और आर्थिक तत्त्वों द्वारा प्रस्तुत विकल्पों में से किस विकल्प की पुष्टि करेंगे अथवा किसे ग्रहण करेंगे।

आधुनिक भारत के विकास के समझने में भारतीय चिन्तन का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः यह समझ लिया जाता है कि अंग्रेजी शासकों द्वारा स्थापित नीति का अध्ययन ही आधुनिक भारतीय इतिहास के ज्ञान के लिए पर्याप्त है। निःसन्देह वह नीति आधुनिक भारतीय इतिहास का एक आवश्यक अंग है किन्तु केवल एक अंग मात्र है। भारतीय राष्ट्र के निर्माण में भारतीय नेताओं के चिन्तन तथा भारत की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का योगदान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय नेताओं के चिन्तन की ओर कम ध्यान दिया गया है। इस चिन्तन के अध्ययन के बिना यह समझ में नहीं आता कि भारत के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में मिलकर क्यों नहीं रह सके? यह प्रश्न उस समय और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब हम यह स्मरण रखें कि भारत के विभिन्न सम्प्रदाय एक-सी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में रहते थे। ये सम्प्रदाय अलग-अलग धर्मावलम्बी होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से अलग-अलग कक्षों में विभक्त नहीं थे। भारत के विभिन्न नगरों और गाँवों में विभिन्न सम्प्रदायों के लोग घुल-मिलकर रहते थे और धर्म का सम्बन्ध अधिकांशतया व्यक्तिगत और निजी क्षेत्र से था। यह बात दूसरी है कि किसी सम्प्रदाय के नेताओं ने अपने प्रभाव को अधिक विस्तृत बनाने के लिए धर्म और धार्मिक संस्थाओं का प्रयोग किया हो।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में राष्ट्रीय जागरण आरम्भ हुआ था किन्तु भारतीय मुसलमानों के प्रभावशाली नेता मुसलमानों के राजनीतिक अस्तित्व के विषय में बहुत पहले से जागरूक थे। शाह वलीउल्लाह और हाजी शरियत उल्लाह के चिन्तन के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है। इस पुस्तक में आधुनिक भारत में मुसलमानों का राजनीतिक चिन्तन शाह वलीउल्लाह से ही आरम्भ किया गया है। आरम्भ में इस राजनीतिक चिन्तन के समक्ष प्रमुख समस्या मुसलमानों की उस प्रधानता को बनाए रखने की थी जो मुसलमानों को १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारत में उपलब्ध थी। जब इस प्रधानता की उपलब्धि तथा स्थापना की समस्त सम्भावनाएं १९ वीं शताब्दी के मध्य तक समाप्त हो गईं और भारत में विदेशी साम्राज्य स्थापित हो गया तब भारतीय मुसलमान राजनीतिक विचारकों का लक्ष्य अंग्रेजों से सत्ता छीनना नहीं था। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में भारत में प्रजातान्त्रिक प्रशासन प्रणाली की माँग आरम्भ हुई। इस समय भारतीय राष्ट्रीय नेता अंग्रेजी नियन्त्रण समाप्त करने की कल्पना नहीं करते थे।

वे अल्पसंख्यक मुसलमानों पर शासन कर सकें।

यह एक मात्र लक्ष्य विभिन्न प्रभावशाली मुसलमान राजनीतिक विचारकों के चिन्तन का स्रोत रहा है। इसलिए उनमें से अधिकांश ने अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा का प्रश्न उठाया था किन्तु ये हित आर्थिक, सामाजिक अथवा धार्मिक न होकर केवल राजनीतिक ही थे। इसलिए वे सब प्रयत्न जो विभिन्न मुस्लिम विचारकों के चिन्तन को आर्थिक अथवा शैक्षणिक पिछड़ेपन से जुड़ा हुआ मानते हैं मुस्लिम पृथकता को भलि-भाँति समझाने में असमर्थ रह जाते है। आधुनिक युग में शिक्षा, उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानो में परस्पर सहयोग के विभिन्न उदाहरण मिलते हैं किन्तु इस युग में राजनीति के क्षेत्र में इस प्रकार के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। खिलाफत आन्दोलन ही एकमात्र ऐसा उदाहरण है जबकि दोनों सम्प्रदायों ने व्यापक रूप से मिलकर कार्य किया था। इस आन्दोलन के वास्तविक लक्ष्य एवं स्वरूप पर मौलाना मोहम्मद अली के अध्याय में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य मुसलमानों को राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित तथा संगठित करना था।

राजनीतिक क्षेत्र में भारत के दोनो प्रमुख सम्प्रदायो के मध्य व्यापक सहयोग अधिक समय तक क्यों नही हो सका? यह प्रश्न १८८७ ई० से भारतीय नेताओं और इतिहासकारों के समक्ष प्रमुख बना रहा है। १८८७ ई० से १९४७ ई० तक अधिकांश राष्ट्रीय नेता इस असहयोग तथा पृथकता को अंग्रेज साम्राज्यवादियो की एक देन कहते रहे। इस तर्क पर विश्वास कर लेना भी सरल था क्योंकि अंग्रेज साम्राज्य-वादियों का लक्ष्य राष्ट्रवादियों के राष्ट्रीय एकता के प्रयत्नों को दुर्बल बनाना था। मुसलमान राजनीतिज्ञ भी इसी प्रकार के तर्कों को कभी-कभी दोहरा देते थे जिससे राष्ट्रवादी नेताओं के कथन तथा सन्देह की पुष्टि होती रहती थी। राष्ट्रवादी नेताओं ने इस सम्बन्ध मे मुसलमान नेताओं के विचारो का कम अध्ययन किया था। उन्होंने उनके समस्त विचारो के स्थान पर उनके कुछ वाक्यों को तथा अपनी मान्यताओं को अधिक महत्वपूर्ण माना था। राष्ट्रवादियो के समक्ष बार-बार ऐसे अवसर उपलब्ध हुए जब मुसलमान राजनीतिज्ञों ने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया था। किन्तु राष्ट्रवादियो ने वास्तविकता मे साक्षात्कार को सदा टाल दिया और वे स्वयं यह विश्वास करते रहे कि वास्तविकता वह थी जिसे उन्होंने मान रखा था। इस तथ्य के परीक्षण का अवसर उस समय उपलब्ध हुआ जब १९३७ ई० मे पहली बार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के लिए निर्वाचन हुए थे। राष्ट्रीय कांग्रेस उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त को छोड़कर अन्य भारतीय प्रान्तों मे मुसलमानो का प्रतिनिधित्व करने में प्रायः असफल रही थी। उस समय भी वास्तविकता से मुँह मोड़कर राष्ट्रीय नेता पार्लियामेन्टरी प्रणाली की गुत्थियो मे उलझ गए।

अंग्रेज इतिहासकारों, कूटनीतिज्ञों एवं प्रशासको का यह प्रयत्न रहा कि वे यह सिद्ध कर दें कि भारत के दोनों बड़े सम्प्रदायों में आपस मे अत्यधिक मतभेद था इसलिए

यदि ये दोनों सम्प्रदाय सामुदायिक दृष्टि से सम्मिलित होकर राजनीतिक कार्य नही कर सके तो इसका दोष इन दोनों सम्प्रदायों के दो पृथक् सामाजिक अस्तित्वों मे था। इसके लिए किसी तीसरे पक्ष अथवा किसी बाह्य कारण को ढूंढने का प्रयत्न निरर्थक था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी विभिन्न अंग्रेज इतिहासकार अंग्रेजी साम्राज्यवाद को निर्दोष सिद्ध करने में लगे हुए है। वास्तव में अंग्रेजी साम्राज्यवादियो ने साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक भेदभाव बढ़ाने में पर्याप्त योगदान दिया है। साम्प्रदायिक निर्णय (कम्यूनल एवार्ड, १६३२) से आरम्भ होकर भारत विभाजन तक की घटनाओ के क्रम मे तो यह योगदान अत्यधिक उभर कर सामने आता है। जहाँ एक ओर इस योगदान की उपेक्षा करना असम्भव है वहाँ दूसरी ओर केवल इसी पर दृष्टि केन्द्रित किए रहना भी अपर्याप्त है। यह ध्यान रखने की बात है कि किसी भी बाह्य तत्त्व का प्रभाव एक समुदाय के हितो के लिए उसी समय निर्णायक तथा स्थायी हो सकता है जबकि उस समुदाय के वास्तविक लक्ष्यों को उस बाह्य तत्त्व ने भली-भाँति समझ लिया हो। इसलिए केवल अंग्रेजी साम्राज्यवादियो की भेद-नीति के आधार पर ही अपनी धारणाएँ बना लेना महत्त्वपूर्ण एतिहासिक तथ्यों की अनदेखी करने के समान होगा।

भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में धर्म-निरपेक्ष गणतन्त्र की स्थापना की गई है। इसलिए स्वतन्त्रता पूर्व के मुसलमानो के राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की ओर कम ध्यान दिया गया है। इस बात का भी प्रयत्न किया जाता है कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता को तथा मुसलमान विचारकों के आन्दोलन को आर्थिक और शैक्षणिक पिछड़ेपन से जोड़ दिया जाए। ऐसे सब प्रयत्न इस तथ्य के समक्ष असफल हो जाते है कि मुसलमानो के पृथक् हितों की दुहाई देने वाले आन्दोलन का प्रभाव मुख्यतः उन प्रान्तो मे अधिक रहा था जिनमें मुसलमान आर्थिक स्थिति, राजकीय सेवाओ अथवा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए नही थे।

पिछले दो वर्षों मे बंगला देश के स्वतन्त्र गठन से विभिन्न विद्वान तथा राजनीतिज्ञ यह मानते हैं कि जिन्ना के दो राष्ट्र सिद्धान्त का अन्त हो गया है। यह उन अर्थों मे उचित प्रतीत होता है जिनके अनुसार भारत-विभाजन धार्मिक मतभेदो के आधार पर हुआ माना जाता है। किन्तु मुस्लिम राजनीतिक विचारकों के चिन्तन के इतिहास का अध्ययन करने पर धर्म का योगदान गौण दिखाई पड़ता है। जिन्ना का "दो राष्ट्र सिद्धान्त" तो पाकिस्तान की माँग का एक औचित्य मात्र था उसका कारण नही था। भारत-विभाजन का वास्तविक कारण मुस्लिम राजनीतिक विचारको की मुसलमानो के विशिष्ट हितो की वह कल्पना रही है जिसके अनुसार वे एक समुदाय के रूप मे हिन्दुओ के बराबर अधिकार उपलब्ध करना चाहते थे। पाकिस्तान के निर्माण से उन्हे इस समानता की उपलब्धि का एक अवसर मिला था। (प्रासंगिक रूप मे यह बात ध्यान रखने योग्य है कि पाकिस्तान की समस्त विदेश नीति का लक्ष्य भारत के साथ समानता प्राप्त करना रहा

है) इन राजनीतिक विचारकों की माँगें उन परिस्थितियों के अनुसार बढ़ती रही थी जिन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता अंग्रेजो से संघर्ष करके प्राप्त करते रहे थे ।

धर्म का योगदान इस राजनीतिक चिन्तन में अपेक्षाकृत कम रहा था यद्यपि अधिकांश मुस्लिम विचारक कुरान से प्रेरणा लेते रहे थे और कई नेताओं ने कुरान के अर्थों की नयी व्याख्या भी की थी। कुरान को अपने प्रोग्राम का आधार बना लेने से मुसलमान राजनीतिक नेता अपने प्रोग्राम की लोकप्रियता और स्वीकृति के विषय में निश्चिन्त हो जाते थे। कुरान की सहायता से उन्हें एक साधन उपलब्ध हो जाता था जिसके द्वारा कुछ मुसलमान राजनीतिक विचारकों ने अपने राजनीतिक कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया था। घटनाओं का क्रम कुछ इस प्रकार से चला और १९३७ ई० के पश्चात् कुछ राजनीतिक नेताओं ने राजनीति और धर्म को इस प्रकार घुला-मिला दिया कि दोनों के प्रथक् योगदान का मूल्यांकन करना कठिन हो गया। भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के २५ वर्ष पश्चात् भारत-विभाजन के लिए उत्तरदायी एक पक्ष के राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन निष्पक्षता के वातावरण में सरलता से किया जा सकता है। यह प्रयत्न राष्ट्रीय एकता के हित को बढ़ाने की दृष्टि से ही किया जा रहा है जिससे हम उस राजनीतिक तत्व को पहचान सकें जो देश विभाजन मे निर्णायक योगदान दे सका है। उस तत्व को धर्म के साथ जोड़कर भ्रान्ति में न पड़ें।

कुछ लेखकों ने इस बात का प्रयत्न किया है कि वे मुसलमान राजनीतिक नेताओं के पृथकतावादी विचारों के लिए राष्ट्रवादी नेताओं को ही उत्तरदायी ठहरा दें क्योंकि उनके अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न नेता परस्पर विरोधी विचार रखते थे, उनमें लक्ष्य की एकता नही थी। कुछ स्थानों पर जहाँ मुसलमान राजनीतिक विचारकों के पृथकतावादी चिन्तन के लिए राष्ट्रवादियों को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता वहाँ ऐसे लेखकों ने उन राजनीतिक विचारकों के चिन्तन में अन्तर्विरोध बताकर उन्हें दोष से मुक्त करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि कुछ महान् विचारकों के चिन्तन में कहीं-कहीं अन्तर्विरोध हो सकता है किन्तु जब किसी लेखक द्वारा कई नेताओं के चिन्तन में बहुधा अन्तर्विरोध दिखाया जाए जैसा मुस्लिम राजनीतिक विचारकों के सम्बन्ध में बताया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस लेखक ने उन नेताओं के समझने में अवश्य कुछ गलती की है। इस कठिनाई को हल करने के लिए मैंने अधिकांशतः विचारकों के चिन्तन को उनके शब्दों में ही व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। अपनी भाषा में उनके विचारों को लिखने में यह सम्भव था कि भाषा और वर्णन अधिक रुचिकर हो जाता लेकिन साथ ही यह भय भी था कि कहीं वह वर्णन व्यक्ति-निष्ठ न समझ लिया जाए। विचारकों के वाक्यों को ज्यों का त्यों रखने में पुस्तक की भाषा प्रवाह को शैली में भी कुछ अन्तर पड गया है। आशा है पाठकगण इस दोष पर अधिक ध्यान नही देंगे।

पुस्तक मे प्रत्येक पृष्ठ के नीचे उन स्रोत ग्रन्थो का वर्णन किया गया है जहाँ से उन वाक्यो को लिया गया है। इन स्रोत ग्रन्थों का संदर्भ बताने से मेरा अभिप्राय यह है कि राजनीतिक विचार सम्बन्धी विवरण प्रमाणिक हैं। प्रायः समस्त स्रोत ग्रन्थ उर्दू भाषा मे हैं इसलिए पुस्तक में उर्दू भाषा के शब्द पर्याप्त रूप मे प्रयोग किए गए है। कुछ उर्दू शब्दो का अनुवाद हिन्दी में नही किया गया है। उदाहरणार्थ : कौम शब्द का कोई अनुवाद नही किया है क्योंकि इस शब्द के कई अर्थ उर्दू भाषा मे होते है उन अर्थों को सर सैयद के संदर्भ मे स्पष्ट कर दिया गया है। यह पाठको पर छोड दिया गया है कि वे कौम शब्द का अर्थ संदर्भ देख कर समझ लें।

इस पुस्तक के लिखने का भी एक संक्षिप्त इतिहास है। अपने शोध-ग्रन्थ (दी अलीगढ मूवमेन्ट, १९६५) को प्रकाशित कर देने के पश्चात् मैंने प्रायः मुस्लिम साम्प्रदायिकता के अध्ययन मे रुचि लेना छोड़ दिया था। किन्तु मार्च १९७१ तथा मार्च १९७२ ई० मे नेहरू म्यूजियम द्वारा "दी कम्यूनल प्रोब्लम—1919–1947" पर आयोजित सेमिनार में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किए जाने के पश्चात् पुनः इस विषय के अध्ययन की ओर मेरा ध्यान आकर्षित हो गया। मुझे यह अनुभव हुआ कि साम्प्रदायिकता की समस्या अब सम्भवतः एक पक्षीय ही समझी जाने लगी है। तिलक, नेहरू, गाँधी, मदनमोहन मालविया, श्यामाप्रसाद मुकर्जी, वीर सावरकर आदि के चिन्तन मे साम्प्रदायिकता की खोज, फजल उल हक जैसे नेता (जिसने २३ मार्च १९४० ई० को मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत किया था) के चिन्तन मे राष्ट्रीय तत्व ढूंढना, और मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओ के चिन्तन की अनदेखी करना अब प्रगतिशीलता के लक्षण माने जाते दिखाई पड़ते है। मुझे यह भी आभास हुआ कि आधुनिक भारतीय इतिहास के अधिकाश विद्वान उर्दू और फारसी भाषाओ से सम्भवत कम परिचित थे इसलिए भी मुसलमान राजनीतिक विचारको के विषय मे कुछ कहने मे संकोच करते थे। इन कारणो से मेरे मन मे यह इच्छा हुई कि मुस्लिम राजनीतिक विचारकों पर हिन्दी मे एक मौलिक शोध ग्रन्थ लिख दिया जाए। मैं लगभग डेढ़ वर्ष के परिश्रम के पश्चात् इस पुस्तक को पूरा कर पाया हूँ। इस कार्य मे श्री यशदेव शल्य, उप-निदेशक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, और प्रो० जी. सी. पाण्डे, अध्यक्ष, इतिहास एव भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, ने बहुत प्रोत्साहन दिया। इस पुस्तक के लिखने मे शोध-सामग्री जुटाने में मेरे मित्र डॉ० के. एम. मिश्रा ने भी विशेष सहायता की है। मैं उन सबके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

जयपुर, २८–२–७३.

एम० एस० जैन

१

१८५७ ई० से पूर्व का राजनीतिक चिन्तन

आधुनिक भारत के मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन की सबसे प्रमुख अभिलाषा मुसलमानो के खोए हुए प्रभुत्व को पुनः प्राप्त करने की थी। मौलाना उबैदुल्ला सिन्धी मुसलमानों के कौमी तथा राजनीतिक संघर्ष का आधुनिक इतिहास सर सैयद, मौलाना मोहम्मद अली अथवा मुस्लिम लीग से आरम्भ करना गलत समझते हैं। उनके विचार मे शृंखला की भाँति यह सब शाह वलीउल्लाह के आन्दोलन से जुड़ा हुआ है और मुसलमानों मे राजनीतिक जागरण का प्रारम्भ शाह वलीउल्लाह से ही मानना चाहिए।[1]

१८वीं शताब्दी के प्रथम दशक मे ही मुगल सत्ता पतन की ओर जा रही थी और उस समय के प्रमुख मुस्लिम विचारक शाह वलीउल्लाह के समक्ष यह ही सबसे बड़ी समस्या थी। वलीउल्लाह का जन्म १७०३ ई० (१११४ हि०) में हुआ था। उनके पिता, शाह अब्दुल रहीम, औरंगजेब के समय में फतवा-ए-आलमगीरी के संकलनकर्ताओं मे से एक थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा उनके पिता की देख-रेख में ही हुई थी। वलीउल्लाह १७ वर्ष के ही थे कि उनके पिता की मृत्यु हो गई। १७२० ई० के पश्चात् वलीउल्लाह ने अध्यापन कार्य आरम्भ किया। १२ वर्षों तक अध्यापन करने के पश्चात् वे मक्का मदीना चले गये जहाँ वे दो वर्ष रहे। वलीउल्लाह इस्लाम की गिरती हुई दशा से भली-भाँति परिचित थे। वहाँ से वे १७३४ ई० में देहली वापस आए। देहली मे उन्होंने पुनः अध्यापन कार्य आरम्भ कर दिया। नजीबउद्दौला उनके विशेष शिष्यों में से एक था। शाह साहब उत्तरी भारत की

1. उबैदुल्ला सिन्धी : शाह वलीउल्लाह और उनकी सियासी तहरीक (१९४४) पृ० २३–२४ यह टिप्पणी पुस्तक की भूमिका लिखने वाले प्रो० मोहम्मद सरवर की है।

राजनीति मे विशेष रुचि रखते थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए १७४३ ई० मे एक मदरसा स्थापित किया। १७६३ ई० मे उनकी मृत्यु हो गई।

मुसलमानो की गिरती हुई स्थिति के लिए शाह वलीउल्लाह ने दो मुख्य कारण बताए। पहला कुरान और हदीस का अध्ययन न करना तथा दूसरा मुसलमानों में आपसी फूट। शाह साहब ने पहले दोष को दूर करने के लिए यह आवश्यक समझा कि कुरान का वास्तविक ज्ञान अधिक मुसलमानों को होना चाहिए, इसलिए उन्होंने मक्का जाने के पूर्व ही कुरान का फारसी अनुवाद आरम्भ कर दिया था[२] यद्यपि यह अनुवाद बाद मे पूरा हुआ था। कहा जाता है कि मुसलमानो ने इस कार्य के विरुद्ध अपना रोष प्रगट किया और वे शाह साहब को मारने तक के लिये उतारु हो गए लेकिन कुछ समय पश्चात् यह विरोध समाप्त हो गया। शाह साहब की इच्छा यह थी कि मुसलमान अपने जीवन को कुरान के अनुसार ढाल लें। यह तब ही सम्भव था जब वे इसे पढ़ें न कि कपड़े मे बाध कर पवित्र ग्रन्थ की भांति अलमारी मे रखें। इसलिए फारसी अनुवाद किया गया था।[३] इसी फारसी अनुवाद का नाम उन्होने "फतह उल रहमान" रखा था। इस अनुवाद के माध्यम से शाह साहब अपने राजनीतिक प्रोग्राम को पूरा करना चाहते थे। पुस्तक की हाशिया टिप्पणियों में उन्होंने अपने राजनीतिक कार्यक्रम को स्पष्ट कर दिया था।

दूसरे दोष को दूर करने के लिए उन्होने मुसलमानों की चार विचारधाराओ में समन्वय करने का प्रयत्न किया। उन्होने शियाओ और सुन्नियों के मतभेद को दूर करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने प्रथम चार खलीफाओं का वर्णन इस प्रकार किया कि शिया सुन्नी सम्प्रदायो में मतभेद बहुत कम हो जाए।[४] इन विभिन्न सम्प्रदायो और विचारधाराओं के मतभेद कम करने के लिए उन्होंने सन्तुलन पर अधिक बल दिया। इस सन्तुलन की प्लेटो के 'न्याय' से तुलना करना अथवा प्लेटो और अरस्तू की भाँति जनसाधारण की बुद्धि तथा नैतिकता को प्रोत्साहित करने मे सहायक बतलाना उचित नही प्रतीत होता।[५] वे भारत मे चल रहे सुन्नी शिया मतभेद अथवा तूरानी, ईरानी, रुहेले, अफगान सामन्तो के आपसी संघर्ष को समाप्त करना चाहते थे।[६]

शाह वलीउल्लाह ने अपने लिए 'कायम उलजमा' का कार्य निर्धारित किया था। कायम उलजमां का यह उत्तरदायित्व था कि मुस्लिम समुदाय (उम्मा) की

---

२. सिन्धी : पृ० ८-९।

३. शेख मोहम्मद इकराम : रौदे-कौसर, पृ० ३२२।

४ ताराचन्द : हिस्ट्री ऑफ फीडम मूवमेन्ट इन इन्डिया (१९६२), I, पृ० १७९। इस सम्बन्ध में वली उल्लाह ने 'इजालत उलखिफा' पुस्तक लिखी थी।

५. तौफीक निजामी : मुस्लिम पोलिटिकल थोट इन इण्डिया ड्यूरिंग दी फर्स्ट हाफ ऑफ दी नाइन्टीन्थ सेन्चुरी, पृ० २१।

६. मोहम्मद इकराम : रौदे कौसर, पृ० ३२४-२६, ३५९-६०।

एकता को पुन: स्थापित करने का प्रयत्न करे। उन्होंने इस्लाम की विभिन्न—'हनफी', शाफी, 'मोतजिली', 'अशरी', मालिकी तथा 'हंबली'—विचारधाराओं को महत्त्वपूर्ण बताया लेकिन सबको कुरान और हदीस के अधीन रखा। 'कुरान' और 'हदीस' का अर्थ नई परिस्थितियों में बताने की आवश्यकता (जिसे वे इजतिहाद कहते थे) समझाई और तकलीद (नकल करना) के दोष स्पष्ट किए।[७]

भारत में मुगल साम्राज्य की बिगड़ती हुई स्थिति को देखकर उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हुज्जत अल्लाह अल बालिघा' में विश्वव्यापी खलीफा के विचार का प्रतिपादन किया। यह विचार भारतीय मध्यकालीन इस्लामिक विचारधारा के विपरीत था जिसके अनुसार केवल प्रथम चार खलीफा ही वास्तव में खलीफा थे।[८] वलीउल्लाह ने कमजोर और अयोग्य राजाओं के दोषों को दूर करने के लिए खिलाफत की नई व्याख्या आरम्भ की थी।

शाह वलीउल्लाह को मुगलों की गिरती हुई दशा अत्यन्त असह्य लगी और उन्होंने मराठों तथा जाटों की शक्ति को समाप्त करने का प्रयत्न किया। कहा जाता है कि शाह वलीउल्लाह को जिस समय वे मदीना में थे एक दैवी स्वप्न दिखाई दिया जिसमें ईश्वर ने संसार की स्थिति तथा व्यवस्था को स्थायी बनाने के लिए उन्हें एक साधन बनाया था। उन्हें दिखाई दिया था कि काफिरों की शक्ति अत्यधिक बढ़ चुकी थी और वे अजमेर तक पर अधिकार कर चुके थे। इसके विरुद्ध कार्य करने का उत्तरदायित्व शाह वलीउल्लाह पर ही पड़ा। इस स्वप्न को उन्होंने आने वाली घटनाओं का सूचक माना था। १७३५-५७ के मध्य मराठों की शक्ति बढ़ती गई और अन्य मुसलमान नेताओं की दुर्बलता को देखकर ही शाह वली ने अहमदशाह अब्दाली को आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया था।[९] शक्तिशाली मुस्लिम सामन्तों से दारउलइस्लाम की रक्षा के लिए सहायता माँगने की परम्परा का अनुसरण करते हुए वलीउल्लाह ने पहले रुहेला सरदार नजीबुद्दौला में मुस्लिम शक्ति को पुनर्जीवित करने की आस्था रखी। उसकी असफलता के पश्चात् उसने निजामउलमुल्क और ताज मोहम्मद खाँ बलूच से यह कार्य करने को कहा।[१०] जब यह सब नेता मराठों और जाटों की शक्ति कुचलने में असफल रहे तब वलीउल्लाह ने अहमदशाह अब्दाली को भारत पर आक्रमण करके मराठों और जाटों की शक्ति नष्ट करने के लिए पत्र लिखा। वलीउल्लाह ने अब्दाली को यह भी लिखा था कि नादिरशाह की भाँति वह मुसलमानों की सम्पत्ति की लूटमार न करे।[११] विदेशी

७ अजीज़ अहमद : स्टडीज इन इस्लामिक कलचर, (१९६४) पृ० २०४।
८. अजीज़ अहमद : पृ० २०६।
९. उबैदुल्ला सिन्धी, पृ० १६७–१७१।
१०. ताराचन्द, पृ० १८।
११ खलीक अहमद निजामी : शाह वलीउल्लाह के सियासी मकतूबात, पृ० ४७–५०, ५२, ६३–६९; उबैदुल्ला सिन्धी, पृ० ५७, ६७, ११७, १७८।

आक्रमणकारी को मराठों और जाटों की शक्ति को कुचलने के लिए ही नहीं अपितु भारत में इस्लाम तथा मुसलमानो की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए आमन्त्रित किया गया था। इस आक्रमण का प्रभाव भली-भांति जानते हुए भी तौफीक निजामी का यह कथन कि शाह वलीउल्लाह ने देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्न किया, विचित्र लगता है।[१२]

शाह वलीउल्लाह का ध्यान इसी बात पर था कि उत्तरी भारत में मुसलमानों की शक्ति को दृढ़ बनाया जाए और मराठों और जाटो की शक्ति को कुचल दिया जाए। वे उन परिवर्तनो के महत्त्व को न समझ सके जो पूर्वी भारत तथा बंगाल में हो रहे थे।[१३] यह परिवर्तन अगले १०० वर्षों में भारतीय मुसलमानो की स्थिति को खराब करने मे अत्यधिक सहायक हुए थे। शाह साहब ने अपनी वसीयत में अपने पुत्र अब्दुल अजीज को आदेश दिया था :

'हम यहाँ परदेशी हैं, हमारे पूर्वज बाहर से आकर यहाँ आबाद हो गए हमारे लिए अरबी भाषा और अरबी वंशावली सम्मान का विषय है।...... " इसलिए जहाँ तक हो सके उन आदतो और रीति-रिवाजों को जो अरब से हमारे साथ आई थी हम हाथ से न जाने दें और हिन्दुओ की आदतों और रीति-रिवाजो को हम अपने में न आने दें।[१४]

शाह वलीउल्लाह भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके राजनीतिक पत्रो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मुसलमानो की खोई हुई प्रधानता को पुनः प्राप्त करना चाहते थे। साथ ही वे मुसलमानो को कुरान के अनुयायी बनाना चाहते थे। अरब की परम्पराओं को ही वे भारतीय मुसलमानो के लिए लक्ष्य मानते थे और मरते समय उनके लिए यह वसीयत छोड़ गए थे कि वे हिन्दुओं के रीति-रिवाजो को न अपनाएँ। इस प्रकार वह परम्परा आरम्भ हुई जो राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में दोनों सम्प्रदायों को एक-दूसरे से अलग करती चली गई।

शाह वलीउल्लाह की मृत्यु के पश्चात् मुसलमानों के उत्थान एवं प्रगति के आन्दोलन को चलाने का उत्तरदायित्व उनके ज्येष्ठ पुत्र अब्दुल अजीज (१७४६-१८२४) पर पड़ा। अपने पिता की मृत्यु के समय उनकी आयु १७ वर्ष की थी। उनके जीवनकाल मे अंग्रेजो का दिल्ली पर अधिकार हो चुका था और उत्तर-पश्चिमी भारत में पंजाब मे सिक्ख राज्य का गठन हो रहा था। वलीउल्लाह के समय मे देहली के इस्लामी राज्य में कुछ थोड़ी जान बाकी थी लेकिन अब्दुल अजीज के समय में वह नाममात्र को ही शेष रह गई थी। देहली मे एक अंग्रेजी रेजिडेन्ट भी रहता

---

१२. तौफीक निजामी, पृ० २१।

१३. ताराचन्द, पृ० १८०।

१४. उबदुल्ला सिन्धी, पृ० ७७-७८, मोहम्मद इकराम पृ० ३४८।

था। इन राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव अब्दुल अजीज के चिन्तन और कार्यों पर भी पड़ा था।

अब्दुल अजीज ने अपने पिता की वसियत पर कार्य करना आरम्भ किया। उन्होंने नवयुवकों के एक दल का गठन किया। जिसके माध्यम से वलीउल्लाह की शिक्षाएं मध्यमवर्ग तथा साधारण मुसलमानों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया गया।[१५] वलीउल्लाह ने १७४३ ई० में देहली में एक मदरसे की स्थापना की थी। उसी के माध्यम से उनके शिष्यों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता गया। इसलिए कहा जाता है कि शाह वलीउल्लाह की शिक्षाओं से यदि दस व्यक्तियों को लाभ पहुँचा तो शाह अब्दुल अजीज से दस हजार व्यक्तियों को लाभ हुआ।[१६] अब्दुल अजीज ने साधारण जनता को कुरान समझाने के लिए "फतह उल अजीज" लिखी थी। इसमें ऐसी बातें बहुत थी जिन पर सामान्य मुसलमानों का विश्वास था। बहुत-सी ऐसी हदीस भी जो ठीक नहीं मानी जाती थी उसमें सम्मिलित करदी गई थी।

वलीउल्लाह ने मुसलमानों के नेतृत्व के लिए कुरान का प्रोग्राम प्रस्तुत किया था। वे उस भावना को समाप्त करना चाहते थे जिसके अनुसार मुसलमानों के उद्धार के लिए किसी बड़े मार्ग-दर्शक की आवश्यकता थी। उनके अनुसार कुरान ही मुसलमानों का सच्चा मार्ग-दर्शन कर सकती थी। उसी मार्ग पर चलते हुए अब्दुल अजीज ने कुरान की शिक्षा को विस्तृत बनाकर अपने चारों ओर एक ऐसा समूह तैयार कर लिया जो उनके बताए हुए मार्ग पर चलने के लिए तैयार था। इसका लाभ यह हुआ कि उन्हें अपने कार्यक्रम को लागू करने में किसी प्रारंभिक विरोध अथवा कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था।

शाह वलीउल्लाह के आन्दोलन का दूसरा पक्ष मुसलमानों की राजनीतिक शक्ति को पुनः स्थापित करना था। यह तब ही संभव था जब उनमें संघर्ष और 'जिहाद' की भावना जागृत की जाए। इसके लिए अब्दुल अजीज को ऐसे शिष्यों की आवश्यकता थी जो इस जिहाद का संचालन कर सकें। अब्दुल अजीज ने अपने शिष्यों के एक मण्डल का गठन किया जिसमें सैयद अहमद बरेलवी, शाह मोहम्मद इस्माइल, मौलाना अब्दुल हैई शाह इसहाक थे। इस मण्डल का नेतृत्व शाह इसहाक करते थे और जिहाद के संचालन का कार्य सैयद अहमद बरेलवी को दिया गया था।[१७] सैयद अहमद को सैनिक प्रशिक्षण के लिए अमीरखा पिण्डारी के पास भेजा गया था। १८१७ ई० में जब उसे यह मालूम हुआ कि अमीरखा अंग्रेजों से सन्धि करना चाहता था तो वह अमारखां की फौज को छोड़कर दिल्ली वापस चला आया।

कहा जाता है कि शाह अब्दुल अजीज को भी स्वप्न में ईश्वर की ओर से यह

---

१५ उबैदुल्ला सिन्धी पृ० ७२।
१६. वही, पृ० ६४।
१७. वही, पृ० ७०।

आदेश मिला था कि वे 'पशतो' (पठानों की भाषा) सीखें ?[१८] शाह वलीउल्लाह पहले ही यह कह चुके थे कि प्रशासन को चलाने की योग्यता अफगानिस्तान की ओर चली गयी थी। इससे उनका अभिप्राय. युद्ध करने की क्षमता से था।[१९] अब्दुल अजीज ने जब कुछ चुने हुए लोगो का एक गुट तैयार कर लिया तब उन्होंने सामान्य जनता मे धार्मिक प्रचार आरम्भ किया। इस प्रकार उनका आन्दोलन मुसलमानों मे अधिक लोकप्रिय हुआ।

शाह अब्दुल अजीज अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष मे भी थे और वे मुसलमानों को उसके ग्रहण करने के लिए कहते थे।[२०] अब्दुल अजीज ने एक फतवा भी प्रसारित किया था जिसमे उन्होने यह बताया था कि दिल्ली के मुगलबादशाह का अधिकार नाममात्र के लिए ही शेष रह गया था। वास्तविक सत्ता ईसाईयों के हाथ में थी और सब स्थानो पर काफिरो का आधिपत्य था। ऐसे सब क्षेत्र दारुल हरब हो गए थे।

तौफीक निज़ामी ने इस फतवे के आधार पर अब्दुल अजीज को अंग्रेज विरोधी संघर्ष आरम्भ करने के लिए श्रेय दिया है। किन्तु इस तर्क में कई दोष है। न तो उन्होने अपनी पुस्तक मे इस फतवे की तारीख दी है, न ही सैयद अहमद बरेलवी को अमीरखा के पास भेजने की तिथि दी है। लेखक यह कहना चाहते है कि अब्दुल अजीज ने केवल फतवा ही नही दिया था बल्कि सैयद अहमद बरेलवी को राजपूताने मे अमीरखा के सैनिक कैम्प मे भी भेज दिया जो जसवन्तराव होल्कर के समर्थन मे अंग्रेजो के विरुद्ध लड़ रहा था।[२१] निजामी ने पृ० ५१ पर यह लिखा है कि सैयद अहमद ने अमीरखा की घुडसवार फौज मे सात वर्षों तक नौकरी की। इससे दो वर्ष पूर्व तक सैयद अहमद अपने निवास-स्थान मालवा (जबकि उनका निवास स्थान रायबरेली, उत्तरप्रदेश, था)[२२] मे रह रहे थे।[२३] अमीरखा ने सैयद अहमद को सैनिक तथा राजनीतिक मामलो मे मुख्य सलाहकार बना लिया था। किन्तु सैयद अहमद १८१७ ई० मे अमीरखा का साथ छोड़कर चले आए क्योकि अमीरखां ने अंग्रेजो के साथ सन्धि करने का निश्चय किया था।[२४]

निज़ामी ने कई बातें ऐसी कही है जो परस्पर विरोधी मालूम पड़ती हैं। यदि सैयद अहमद १८१० ई० मे अमीरखा की सेना मे भर्ती हुए थे तब उनका यह कथन गलत हो जाता है कि उस समय अमीरखा जसवन्तराव होल्कर के

---

१८. उबैदुल्ला सिन्धी, पृ० २०३-२०६।
१९. वही, पृ० ६६।
२०. ताराचन्द, जि० २, पृ० ३५१। यह घटना १८२८ ई० के बाद की थी क्योंकि १८२८ ई० में ही दिल्ली कॉलेज खोला गया था।
२१ तौफीक निजामी, पृ० २५-२६।
२२. ताराचन्द, जि० २, पृ० २३।
२३. तौफीक निजामी, पृ० ५१।
२४. वही, पृ० ५२।

साथ अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ रहा था। यदि सैयद अहमद १८०८–१० तक अपने वतन (जो निज़ामी साहब ने गलत लिख दिया है) उत्तरप्रदेश में रहे और १८१० ई० में वहीं से सीधे अमीरखां की सेना में भर्ती हो गए तब अब्दुल अजीज को सैयद अहमद के अमीरखां के पास भेजने का श्रेय देना ठीक नहीं मालूम पड़ता है। निज़ामी ने तिथियों पर ध्यान नहीं दिया है। सम्भवत: इसलिए कि वे सैयद अहमद को अंग्रेज विरोधी सिद्ध करने का प्रयास कर रहे है। अमीरखां पिण्डारी को भी अंग्रेज-विरोधी घोषित करना ऐतिहासिक तथ्यों की अनदेखी करना है।

१८१०–११ ई० में अमीरखां अंग्रेज-विरोधी संघर्ष में भाग नहीं ले रहा था और अमीरखां ने अंग्रेजों के साथ अन्य मराठा सरदारों की अपेक्षा पहले सन्धि करली थी। इसलिए सैयद अहमद बरेलवी का अमीरखां की फौज में प्रशिक्षण पाना अंग्रेज विरोधी कार्य नहीं था।[२५]

वास्तव में अब्दुल अजीज ने अपने आन्दोलन को सफल बनाने के लिए एक केन्द्रीय समिति बनाई थी जिसमें वे स्वयं और उनके तीनों भाई थे। इस समिति की देखरेख में नवयुवकों के एक दल का संगठन किया गया जिसका संचालन मौलाना इस्माइल शहीद, मौलाना अब्दुल हैई, मौलाना मोहम्मद इसहाक और मौलाना मोहम्मद याकूब करते थे। सैयद अहमद इस संचालन मण्डल में अपनी सैनिक योग्यता के आधार पर जोड़ दिये गये थे।[२६] जिहाद के संचालन का कार्य सैयद अहमद को सौंपा गया था लेकिन उनके दो प्रमुख सलाहकार भी नियुक्त किये गये थे, यह दोनों व्यक्ति थे—मौलाना अब्दुल हैई तथा मौलाना मोहम्मद इस्माइल शहीद। इन तीनों व्यक्तियों को सम्मिलित रूप से जिहाद संचालन का अधिकार दिया गया था।[२७]

इतने प्रशासनिक गठन के पश्चात् ही अब्दुल अजीज ने सैयद अहमद और उनके संचालन मण्डल के सदस्यों को १८१७ ई० में पहली बार और १८२१–२२ मे दूसरी बार उत्तरी भारत के विभिन्न भागों में प्रचार करने के लिए और इसके बाद हज करने के लिए भेजा। १८२५ ई० मे यह मण्डल हज से लौटा। उस समय तक अब्दुल अजीज की मृत्यु हो चुकी थी। मरते समय उन्होंने 'मदरसे रहीमया' का कार्यभार मोहम्मद इसहाक को सम्भला दिया था।

मौलाना सैयद अहमद ने हज से लौट आने के पश्चात् जिहाद की तैयारी प्रारम्भ करदी। मौलाना मोहम्मद इस्माईल और मौलाना अब्दुल हैई ने भारत के विभिन्न भागों का दौरा करके दो हजार जिहादियों की एक फौज तैयार की। इस दल को उत्तर-पश्चिमी सीमा पर चलने का आदेश दिया गया। १८२६ ई० में यह हिजरत

---

२५. मौलाना उबैदुल्ला सिन्धी: इस घटना का उद्देश्य केवल सैयद अहमद को सैनिक प्रशिक्षण दिलवाना बताते हैं। पृ० ९२–९३।

२६. उबैदुल्ला सिन्धी, पृ० ८०–८१, ९३।

२७. वही, पृ० ९२।

(देश के बाहर चले जाना) आरम्भ हुई। जनवरी १८२७ ई० में सिन्धु नदी के तट पर 'हिन्द' नामक स्थान पर एक फौज तैयार की गयी और सैयद अहमद को इस जिहाद के संचालन का नेता मान लिया गया।[२८] १८२७ ई० के अन्त में मौलाना अब्दुल हैई की मृत्यु हो गई। इस घटना से जिहाद के संचालन में मौलिक अन्तर आ गया था अब सैयद अहमद निरंकुश हो गए थे।

इस जिहाद का उद्देश्य क्या था। तौफीक निज़ामी यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि "सैयद अहमद भारतीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाले प्रथम व्यक्ति थे और अंग्रेजों को बाहर निकालकर राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना चाहते थे जिसमें शासक के धर्म और आदर्श से कोई झगड़ा न हो ?"[२९] इस विचार के समर्थन में उन्होंने ग्वालियर राज्य के मंत्री हिन्दूराव के नाम लिखा हुआ बिना तिथि का एक पत्र दिया है। इस पत्र में यह आश्वासन देने का प्रयत्न किया गया था कि उनका उद्देश्य सत्ता-प्राप्ति नहीं था। इसी सन्दर्भ में सैयद अहमद के अमीरखाँ का साथ छोड़कर चले आने की घटना का वर्णन किया गया है जिससे यह सिद्ध हो सके कि सैयद अहमद का आन्दोलन अंग्रेज विरोधी था।[३०]

१८१७ ई० में सैयद अहमद को अमीरखाँ की सेना से इसलिए भाग कर आना पड़ा था कि जिस सैनिक प्रशिक्षण के लिए वह वहाँ गये थे अब उसकी सम्भावना समाप्त हो चुकी थी। अमीरखाँ का अंग्रेजों से सन्धि करना इस बात का सूचक था कि अब वह लूटमार तथा युद्ध की नीति छोड़ रहा था। ऐतिहासिक सदर्भ को छोड़कर तथ्यों को गलत नीतियों के समर्थन के लिए प्रस्तुत करना ठीक नहीं है। हिन्दूराव के नाम पत्र इसलिए लिखा गया था जिससे कि रणजीतसिंह के विरुद्ध चल रहे उनके आन्दोलन को उपलब्ध आर्थिक सहायता के मार्ग में कोई बाधा न पड़े। यह सहायता उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्यभारत में उपलब्ध होती थी। ग्वालियर के मन्त्री हिन्दूराव की सहायता इस आन्दोलन में अत्यन्त महत्वपूर्ण थी।[३१]

सैयद अहमद बरेलवी के आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य मुसलमानों को हिन्दुओं के रीतिरिवाजों से मुक्ति दिलाना था। अधिकांश मुसलमान कुछ पीढ़ियों पूर्व हिन्दू थे। वे हिन्दू तीर्थों को जाते थे तथा उनके विभिन्न रीतिरिवाजों को मानते थे।[३२] सैयद अहमद चाहते थे कि मुसलमान इन रीतिरिवाजों को छोड़ दें इसके अतिरिक्त

---

२८. उबैदुल्ला सिंधी, पृ० ६६।

२९. तौफीक निज़ामी, पृ० ५०।

३०. वही, पृ० ४६-५०।

३१. अब्दुल हसन नदवी : सीरत-ए-सैयद अहमद शहीद, पृ० ६२, १०६। गुलाम रसूल मेहर : सैयद अहमद शहीद, पृ० २८७-२८८, ४३५। इन सन्दर्भ ग्रन्थों के आधार पर अज़ीज़ अहमद ने अपनी पुस्तक 'इस्लामिक कलचर' में उपरोक्त वर्णन दिया है, पृ० २११।

३२ अज़ीज़ अहमद : पृ० २११-२१२। उन्होंने सीरत मुस्तकीम (रचियता सैयद अहमद) तथा गुलाम रसूल मेहर तथा अन्य लेखकों की पुस्तकों से उद्धरण दिये हैं।

सैयद अहमद बरेलवी के जिहाद का उद्देश्य सिक्खों के विरुद्ध संघर्ष करना था। सर सैयद अहमदखाँ ने इस समय के आन्दोलन के विषय में स्पष्ट कहा था कि जो कुछ भी कार्य सैयद अहमद बरेलवी (उनके समर्थकों और अनुयाईयों को वहाबी कहा जाता था) करते थे उस सब की सूचना अंग्रेजों को उपलब्ध रहती थी और अंग्रेज सरकार को किसी भी प्रकार का सन्देह उन पर नहीं था। १८२४ ई० के पश्चात् सामान्य मुसलमानों में जिहाद का प्रचार मोहम्मद इस्माइल करते थे। उन्होंने अपने मुँह से अंग्रेजों के विरुद्ध कोई बात कभी नहीं निकाली थी। सिक्खों के विरुद्ध जिहाद करने के लिए युद्ध का सामान अंग्रेजों के अधीन भारत में ही एकत्रित किया गया था। अंग्रेजी सरकार ने अपने अधिकारियों को इसमें हस्तक्षेप से मना किया था उसने किसी न किसी रूप में उनको सहायता भी पहुँचाई जैसे—दिल्ली के एक हिन्दू व्यापारी ने जिसके पास जिहाद के लिए धनराशि एकत्र की गई थी, कुछ रुपया गबन कर लिया। अंग्रेज सरकार ने उसे रुपया लौटाने पर बाध्य किया।[33] प्रारंभ में सैयद अहमद और मोहम्मद इस्माइल को कुछ सफलता प्राप्त हुई और कुछ अफगानों ने उनका समर्थन किया। रणजीतसिंह स्वयं भी उस समय उत्तर-पश्चिमी सीमा पर अपना नियन्त्रण विस्तृत करने में लगा हुआ था। इसलिए अफगान जातियाँ पहले से ही उसके विरुद्ध संघर्ष कर रही थी। लेकिन शीघ्र ही अफगान-जातियों और सैयद अहमद बरेलवी के मध्य धार्मिक मतभेद उत्पन्न हो गये। अफगान कट्टर 'हनफी' विचार-धारा के मानने वाले थे जबकि वलीउल्लाह साहब के चलाए हुए आन्दोलन में विभिन्न विचारधाराओं में सन्तुलन बनाए रखने का प्रयत्न किया गया था। फलस्वरूप इन दोनों वर्गों में मतभेद आरम्भ हुआ। दूसरा कारण यह भी था कि सैयद अहमद कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सके थे। इसलिए उनके समर्थकों में निराशा भर गई। एक अन्य कारण उनकी असफलता का यह भी था कि भारत से मुजाहिद (जिहाद करने वाले) अपने साथ स्त्रियों को नहीं ले गये थे। कई वर्षों तक अफगान प्रदेश में रहते-रहते उन्होंने वहाँ पर अफगान लड़कियों से शादी करना आरम्भ कर दिया था। यह अफगानों के लिए असह्य हो गया।[34] इसके अतिरिक्त अफगान सरदारों के लिये सैयद अहमद के नेतृत्व में कार्य करने से उनके सम्मान तथा प्रभुत्व पर भी प्रभाव पड़ रहा था।

सैयद अहमद को पेशावर के शासक यार मोहम्मदखाँ से भी विरोध सहना पड़ा था। सैयद अहमद के जिहाद का उद्देश्य सिक्खों की शक्ति को समाप्त करके

---

३३ यह वर्णन सर सैयद के उन लेखों पर आधारित है जो उन्होंने डॉ० हण्टर की पुस्तक की समीक्षा के रूप में लिखे थे। ये लेख अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गजट में २४ नवम्बर, १८७१ से २३ फरवरी, १८७२ ई० तक छपते रहे थे। अब ये लेख एकत्रित रूप में प्रकाशित हो गये हैं। मौलाना मोहम्मद इस्माइल (सम्पा.) : मकालात-ए-सर सैयद, भाग IX, पृ० १९९-२०८।

३४. उबैदुल्ला सिन्धी, पृ० १०८। कभी-कभी यह शादी ब्याह बलपूर्वक भी होते थे क्योंकि सैयद अहमद इस जिहाद के नेता थे।

अफ़गानों की सहायता से पुन. इस्लामी राज्य की स्थापना करना था। तौफ़ीक निज़ामी ने सैयद अहमद द्वारा अफ़गानिस्तान और बुखारा के शासकों को लिखे गये पत्रों के कुछ अंशों को अपनी पुस्तक के अन्त में देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वह अंग्रेज विरोधी था।[३५] लेकिन उन्होंने पूरे पत्रों को न देकर उनसे कुछ उद्धरण मात्र ही दिये है। इसके विपरीत अजीज अहमद का कथन अधिक ठीक है कि सैयद अहमद बरेलवी द्वारा अफ़गानिस्तान और बुखारा के शासकों को लिखे गये पत्रों में भारत में अंग्रेज़ी राज्य का वर्णन है और उन्हें भारत में इस्लामी राज्य स्थापित करने के लिये 'दावत' (बुलावा) दी गई है किन्तु इसका महत्व गौण है। उन पत्रों में मुख्य उद्देश्य सिक्खों के विरुद्ध जिहाद करने के लिये निमंत्रण देना था।[३६]

सीमा प्रान्त में यह सघर्ष १८२६–३० ई० तक जोरो पर रहा। १८३० ई० में सिक्खों ने पेशावर को जीत लिया। इससे मुजाहिदों के हौसले पस्त हो गए। कुछ लोगों में इस बात पर भी मतभेद हुआ कि क्या सैयद अहमद वास्तव में नेतृत्व के योग्य थे? अधिकांश मुजाहिद सैयद अहमद के विरुद्ध हो गए थे। इसलिये इस बात की आवश्यकता हुई कि वे अपनी व्यक्तिगत प्रधानता स्थापित करें। केवल कुछ व्यक्तियों ने उनको अपना गुरु एव नेता स्वीकार किया (इसको बैत लेना कहते हैं)। ६ मई, १८३१ ई० को बालाकोट की लड़ाई में सैयद अहमद तथा मौलाना इस्माइल मारे गए। अधिकांश मुजाहिद तो १८३० ई० के पश्चात् ही भारत लौट आए थे और जो कुछ बाकी बच गए थे, वे १८४६ ई० के पश्चात् भारत भेज दिए गए थे जबकि अंग्रेजों का पजाब पर अधिकार स्थापित हो चुका था।[३७]

मौलाना उबैदुल्ला सिन्धी का विचार है कि जिहाद के इस अभियान के सगठन का श्रेय शाह अब्दुल अजीज को था। सैयद अहमद सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त होने के कारण इस अभियान के सैनिक सचालक थे। सैयद अहमद के अन्य दो साथी (मौलाना अब्दुल हई और मौलाना मोहम्मद इस्माइल) अब्दुल अजीज द्वारा ही तैयार किए गये थे। भारत से जो सहायता सीमान्त प्रदेश को भेजी जाती थी, वह मौलाना मोहम्मद इसहाक के द्वारा ही भेजी जाती थी जो अब्दुल अजीज की मृत्यु के पश्चात् 'मदरसे रहीमिया' के सचालक थे।[३८] इस प्रकार यह जिहाद शाह वली उल्लाह द्वारा चलाए हुए आन्दोलन का ही एक भाग था, जो १८२५ ई० के पश्चात् प्रायः दुर्बल हो चला था।

---

३५ तौफ़ीक निज़ामी, पृ० ६६–१०८।

३६ अज़ीज़ अहमद : पृ० २१४।

३७ मौलाना मोहम्मद इस्माइल पानीपती : मकालात, IX, पृ० १६४–१६५।

३८ उबैदुल्ला सिन्धी, पृ० १२०–१२२। मौलाना सिन्धी ने एक महत्वपूर्ण घटना की ओर ध्यान दिलाया है कि कलकत्ता स्थानान्तर से जो डिग्री एक हिन्दू सेठ के विरुद्ध मिली थी, वह मोहम्मद इसहाक को मिली थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि धन भेजने का समस्त कार्य मौलाना मोहम्मद इसहाक की देखरेख में ही होता था।

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक आन्दोलन बंगाल में आरम्भ हुआ जिसे फराएज़ी आन्दोलन कहते हैं। इस आन्दोलन के संचालक हाजी शरियत उल्लाह थे। उनका जन्म १७६४ ई० में एक साधारण परिवार में हुआ था। उनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। जब वे १८ वर्ष के थे उस समय वे मक्का चले गए थे और वहाँ बीस वर्षों तक रहे। १८०२ ई० में वे बंगाल वापस आए। उनका बीस वर्ष की अवधि तक मक्का मदीना में रहना और बाद में बंगाल में उन सिद्धान्तों का प्रचार करना जो अब्दुल वहाब ने मदीना और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में फैलाए थे, इस बात का प्रमाण है कि वे वहाबी सिद्धान्तों को भारत में लाने के लिये उत्तरदायी हुए।[39] जिस प्रकार शाह वली उल्लाह और उनके शिष्य देहली, यू० पी० और बिहार के क्षेत्रों में मुसलमानों को मुख्यतः यह शिक्षा दे रहे थे कि वे हिन्दू परम्परा और रीतिरिवाज छोड़ दें, उसी प्रकार बंगाल में हाजी शरियत उल्लाह ने यह प्रचार आरम्भ किया कि मुसलमानों को वे सब प्रथाएँ छोड़ देनी चाहिएँ जो मौलिक इस्लाम के विरुद्ध थीं। उन्हें कुरान और 'सुन्ना' पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। हाजी साहब ने मुसलमानों को इस्लाम की आज्ञाओं से परिचित कराया तथा उन्हें कर्त्तव्यों (उर्दू में जिन्हें फरायज कहते हैं) के पालन पर अधिक दृढ़ बनाया, उसीसे यह आन्दोलन 'फरायज़ी' आन्दोलन कहलाता है।

हाजी शरियत उल्लाह ने बंगाल को दारउल हर्ब घोषित कर दिया था। इसलिए उन्होंने जुमा (शुक्रवार) की नमाज को भी बन्द कर दिया था। अंग्रेजों द्वारा स्थापित प्रशासकीय तथा न्यायिक सुधारों के प्रभाव से भी वे मुसलमानों को दूर रखना चाहते थे।[40] उनके आन्दोलन से बंगाल के मुसलमान कृषकों में राजनीतिक जागरण आरम्भ हुआ। उस समय में अंग्रेज़ी लगान सम्बन्धी नीति के फलस्वरूप नए जमींदारी वर्ग का विकास हो रहा था, जिसके अधिकांश सदस्य हिन्दू थे। कार्नवालिस के स्थायी बन्दोबस्त से जमींदारों को कृषकों पर मनमाना अधिकार उपलब्ध हो गया था। बंगाल के कुटीर उद्योग भी इसी समय नष्ट होने आरम्भ हो चुके थे। यह सम्भव है कि मुसलमानों की बिगड़ी हुई आर्थिक दशा उनके कार्यक्रम को अधिक लोकप्रिय बना सकी हो किन्तु उन्होंने कोई आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया था। उन्होंने मुसलमानों की पद-दलित अवस्था का मुख्य कारण उनका इस्लामी कर्तव्यों के

---

३९. अज़ीज़ अहमद : पृ० २१६। तौफ़ीक़ निज़ामी बिना प्रमाण के इस विचार का प्रतिपादन करते हैं कि शरियत उल्लाह पर वहाबी शिक्षाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था (पृ० ७८-७९) और इसके विपरीत वे सैयद अहमद बरेलवी को जो मक्का में दो वर्ष से भी कम रहे थे, भारत में वहाबी शिक्षाओं के फैलाने के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं, यद्यपि दोनों ने मक्का में ही शिक्षा प्राप्त की थी (पृष्ठ ३२)। यह गलत है क्योंकि सैयद अहमद बरेलवी मक्का जाने के पूर्व १५ वर्ष तक मौलाना अब्दुल अज़ीज़ के शिष्य रहे थे।

४०. तौफ़ीक़ निज़ामी : पृ० ८२।

प्रति निश्चित रहना बताया था और उन्हें अपने पड़ोसियों (हिन्दुओं) से अपनी पृथकता स्थापित करने को कहा था।

हाजी शरियत उल्लाह की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र मोहम्मद मोहसिन उर्फ दूदू मियाँ (१८१६-१८६०) फराजी आन्दोलन का नेता हुआ। वे और अधिक उग्र विचारों के नेता थे। उन्होंने मुसलमानों में आत्म-विश्वास पैदा करने के लिये किसानों को टैक्स अथवा लगान देने से मना किया। मुसलमानों के झगड़ों को तय करने के लिये पृथक् न्यायालय भी स्थापित किए गए। लेकिन उन्हें आपसी झगड़ों को भड़काने के सम्बन्ध में जेल में बन्द कर दिया गया, जहाँ १८६० ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

वली उल्लाह और वहाबी (फराअजी) आन्दोलन १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध और १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह भावना फैलाने में सफल हुए कि मुसलमानों को हिन्दुओं के रीति-रिवाज, संस्कार आदि को छोड़ देना चाहिए। इससे हिन्दू पवित्र स्थानों की यात्राएँ मुसलमानों में अलोकप्रिय होती चली गईं जिससे वे अपनी पृथकता विकसित कर सकें। वली उल्लाह का आन्दोलन मुसलमानों की खोई हुई प्रतिष्ठा को भी पुन: प्राप्त करना चाहता था। ये दोनों सिद्धान्त अधिकांश मुसलमान नेताओं के चिन्तन की पृष्ठभूमि बन गए।

२

सर सैयद अहमदखाँ और अलीगढ़ विचार-पद्धति

(१८१७–१८९८)

आधुनिक भारत में मुसलमानो के राजनीतिक पथ-प्रदर्शक सर सैयद अहमदखाँ थे। उनका जन्म १७ अक्टूबर, १८१७ ई० को दिल्ली के एक सैयद परिवार में हुआ।[1] उनके पिता को मुगल बादशाह की ओर से वजीफा मिलता था। उनकी शिक्षा प्राचीन एवं परम्परागत आधारों पर हुई थी। १८–१९ वर्ष की आयु तक उन्होने कुरानशरीफ, अर्बी और फारसी की कुछ पुस्तकें और थोडा अङ्कगणित पढ़ा था। नियमित शिक्षा-पद्धति से सर सैयद का सम्पर्क कम रहा लेकिन विद्या-प्रेम उनके साथ जीवन भर बना रहा। जब उनकी आयु २१ वर्ष की थी, उनके पिता का देहान्त हो गया और उन्होने न्यायालय कार्य सम्बन्धी प्रशिक्षण अपने चाचा के यहाँ सीखा। दिल्ली में ही अंग्रेज जज, हैमिल्टन, से उनका सम्पर्क हुआ। हैमिल्टन ने १८३९ ई० मे सैयद अहमद को आगरा बुलाकर कमिश्नरी के दफ्तर में 'नायब मुन्शी' के पद पर उनकी नियुक्ति करदी। १८४१ ई० में सैयद अहमद ने मुन्सफी की परीक्षा पास करली और मैनपुरी मे वे पहली बार मुन्सिफ नियुक्त हुए। इस समय उन्होंने कुछ धार्मिक पत्रिकाएँ प्रकाशित की। १८४२ ई० मे मुगल बादशाह बहादुरशाह ने "जवादउद्दौला आरिफजङ्ग" की उपाधि से सैयद अहमद को सुशोभित किया। १८४६ ई० मे उनका तबादला दिल्ली हो गया। १८४७ ई० मे उन्होंने "आसार-उस-सनादीद" नामी पुस्तक प्रकाशित करवायी। इसमे दिल्ली के मध्यकालीन सम्राटों का वर्णन था। इस पुस्तक का १८६१ ई० में फ्रान्सीसी भाषा में अनुवाद हुआ। वे १८५५ ई० में बिजनौर के सदर अमीन नियुक्त हुए। १८५७ ई० की

१ सर सैयद की जीवनी का यह वर्णन हाली द्वारा लिखित हयात-ए-जावेद पर आधारित है।

क्रान्ति के समय सर सैयद इसी स्थान पर थे और उन्होंने बिजनौर के उपद्रव का इतिहास लिखा। १८५८ ई० में उन्होंने 'असबाब बगावत-ए-हिन्द' लिखी और उसके पश्चात् 'लायल मोहम्डन्स ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तिका निकाली।

सर सैयद अहमदखां के जीवनकाल में १८५७ ई० का उपद्रव मध्य-बिन्दु ही नहीं है अपितु एक महत्त्वपूर्ण घटना भी है। इस उपद्रव से पूर्व उनका ४० वर्ष का जीवनकाल पुरानी परम्पराओं के प्रभाव में व्यतीत हुआ था। वे अंग्रेजी भाषा में वार्तालाप की क्षमता नहीं रखते थे और उनका पठन-पाठन भी फारसी और उर्दू तक ही सीमित था। वे अरबी भाषा जानते थे लेकिन उसमें उनकी योग्यता किसी साहित्यिक स्तर की नहीं थी। १८५७ ई० के पश्चात् उन्होंने अंग्रेजी भाषा में कुछ योग्यता प्राप्त की थी लेकिन वे अन्त तक भाषण आदि उर्दू में ही देते थे।

१८६४ ई० में गाजीपुर में उन्होंने साइन्टिफिक सोसायटी की स्थापना की जिसका स्थायी कार्यालय बाद में अलीगढ़ में रहा। इसी समय इन्होंने 'तबैयन-उल-कलाम' और 'ताआम अहल-ए-किताब' लिखी। १८६६ ई० में वे इंगलैण्ड गये और वहाँ से लौटने पर उन्होंने अलीगढ आन्दोलन आरम्भ किया। १८७० ई० में 'तहजीब-उल-अखलाक' नाम की पत्रिका प्रकाशित करनी आरम्भ की। इस पत्रिका ने मुसलमानों में खलबली मचादी क्योंकि इसमें कुछ पुरानी परम्परागत मान्यताओं पर कुठाराघात किया गया था। १८७५ ई० में सैयद अहमदखां ने अलीगढ कॉलिज की एक स्कूल के रूप में स्थापना की। १८७६ ई० में उन्होंने सरकारी नौकरी से पेन्शन लेकर अलीगढ में रहना आरम्भ कर दिया।

१८७८ ई० में सर सैयद को इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया गया। १८८६ ई० उन्होंने मोहम्डन एजूकेशनल कानफरेन्स की स्थापना की। उन्होंने १८८७ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का विरोध किया और १८८८ई० में इण्डियन पैट्रियोटिक एसोसिएशन स्थापित किया। नई समस्याएँ हल करने के लिए १८९३ ई० में राजनीतिक संगठन मोहम्डन एंग्लो ओरियन्टल डिफेन्स एसोसिएशन की स्थापना की गई और जिन सुविधाओं को अंग्रेजी सरकार से मांगने का १८९५-९६ ई० में निश्चय कर लिया गया था वे ही १९०६ ई० में शिमला शिष्टमण्डल द्वारा अंग्रेजी सरकार के समक्ष प्रस्तुत की गई। १८९८ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

सर सैयद के चिन्तन का आधार—सर सैयद अहमदखां ने १८५८ ई० से मुसलमानों के भविष्य के विषय में चिन्तन आरम्भ किया। १९वीं शताब्दी के अन्त तक भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को समाप्त कर देने का विचार प्रभावशाली नहीं था। सर सैयद का चिन्तन भी इस मौलिक आधारशिला पर स्थापित था कि अंग्रेजी साम्राज्य स्थाई था, इसलिए सर सैयद के समक्ष प्रमुख समस्या मुसलमानों को अंग्रेजों का आश्रय उपलब्ध कराने की रही। यह उनके दूरदर्शी होने का एक प्रमाण है कि मुसलमानों के राजनीतिक भविष्य के सम्बन्ध में उनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग में कोई

भी परिवर्तन उस समय आया जबकि अंग्रेज़ी साम्राज्य का अस्तित्व ही संदिग्ध हो गया था। इस परिवर्तन का लक्ष्य भी सर सैयद द्वारा निर्धारित उद्देश्यों को ही पूरा करने के लिए प्रयत्न करना था।

सर सैयद अहमदखाँ का ध्यान केवल मुस्लिम कुलीन वर्गों के राजनीतिक हितों तक ही सीमित था। इस वर्ग की कुलीनता किसी पूँजी अथवा भू-स्वामित्व पर आधारित नहीं थी, न ही यह किसी योग्यता पर आधारित थी बल्कि यह केवल इस तर्क पर आधारित थी कि मध्यकाल में मुसलमानों ने भारत पर शासन किया था। यह तर्क ठीक नहीं था, क्योंकि मध्यकालीन भारत में तुर्क, खिलजी, तुगलक, सैयद, अफगान और मुगल वंशों के शासक समय-समय पर रहे थे। इन वंशों के कार्यकाल में राजनीतिक अधिकार उन विशिष्ट वर्गों तक ही अधिकांशतया सीमित था। यह कभी नहीं हुआ कि समस्त भारतीय मुसलमानों का शासनाधिकार से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हो। १६वीं शताब्दी के अधिकांश भारतीय मुसलमान पहले हिन्दू थे तथा भारत के मूल निवासी थे जिन्होंने धर्म परिवर्तन कर लिया था।

इस तथ्य से मुँह मोड़कर सर सैयद ने इस बात पर अधिक बल दिया था कि भारत के मुसलमान बाहर से आये थे और वे भारत के शासक रहे थे। उन्होंने १८५८ ई० में लिखा था कि "मुसलमान इस देश के मूल निवासी नहीं हैं। वे भूतकालीन विजेताओं के साथ यहाँ आए और धीरे-धीरे यहाँ आकर बस गये।"[2] इसी प्रकार १८७७ ई० में जब इंगलैण्ड की रानी विक्टोरिया ने 'भारत साम्राज्ञी' की उपाधि ग्रहण की थी उस समय अलीगढ़ नेताओं ने बधाई अभिनन्दन-पत्र प्रस्तुत करते हुए कहा था कि "भारतीय मुसलमान उस जाति के वंशज हैं जो एक समय इस देश पर राज्य करती थी।"[3] दिसम्बर १८८७ ई० में लखनऊ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस विरोधी भाषण देते हुए उन्होंने मुसलमानों से कहा था :

"थोड़ी देर के लिए सोचो कि तुम कौन हो? हमारी यह कौम क्या है? हम वह हैं जिन्होंने भारत पर ६ या ७ शताब्दियों तक राज्य किया है।'''''' हमारी कौम उन लोगों के खून से बनी है जिनसे न केवल अरब बल्कि एशिया और यूरोप भी काँपते थे। हमारी कौम ने अपनी तलवार से समस्त भारत को जीता था यद्यपि यहाँ के लोग एक ही धर्म के मानने वाले थे।"[4] कांग्रेस के विभिन्न प्रस्तावों का वर्णन करते हुए उन्होंने पूछा कि किस कौम ने इन्हें प्रस्तुत किया था? उन्होंने उन प्रस्तावों को तुच्छ समझा और कहा कि यदि यह प्रस्ताव मुसलमानों या राजपूतों द्वारा प्रस्तुत किये गये होते जिनके पूर्वजों ने तलवार संभाली थी तो शायद उन पर ध्यान भी दिया जाता। मार्च १८८८ ई० मेरठ में उन्होंने कहा :

---

२. सैयद अहमदखाँ : कॉजिज ऑफ दी इण्डियन रिवोल्ट, पृ. ३२। यह पुस्तक मूल रूप में उर्दू में प्रकाशित हुई थी और बाद में इसका अंग्रेजी अनुवाद किया गया था।

३. अलीगढ़ इन्स्टिट्यूट गजट (गजट), १६ जनवरी, १८७७, पृ० ४४।

४. सैयद अहमद : प्रेजेन्ट स्टेट आफ पालिटिक्स, पृ १७-१८।

"मेरे भाई मुसलमानों : मैं तुम्हें फिर याद दिलाना चाहता हूँ कि तुमने विभिन्न कौमों पर राज्य किया है और कई मुल्कों को शताब्दियों तक अपने अधीन रखा है। भारत में सात सौ वर्षों तक तुमने राज्य किया है। तुम जानते हो राज्य करना क्या होता है ?"[५]

जब १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी प्रभाव एवं शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप प्रजातन्त्रीय पद्धति पर प्रतिनिधित्व की माँग की गई तब मुसलमानों के एकमात्र प्रभावशाली राजनीतिक नेता, सर सैयद अहमद, ने इसका विरोध किया था। इस विरोध का प्रमुख कारण यह था कि उनका ध्यान केवल कुलीन वर्गों तक सीमित था और प्रजातन्त्रीय आधार पर मुसलमानों के उच्च वर्गों को वे विशिष्ट अधिकार उपलब्ध नहीं हो सकते थे, जिन्हें वे उनके लिए चाहते थे। राजनीति में ही नहीं सर सैयद का दृष्टिकोण शिक्षा के क्षेत्र में भी केवल कुलीन मुसलमानों तक ही सीमित था। अलीगढ़ कॉलिज में भी वह मुस्लिम सम्प्रदाय के नेताओं को प्रशिक्षण देना चाहते थे। वे यह भी समझते थे कि कुलीन घरानों के लोग अंग्रेज अधिकारियों से अपेक्षाकृत समानता के स्तर पर मिल सकते थे। अलीगढ़ नेताओं का विश्वास था कि कुलीन घरानों के लडको को शिक्षित कर देने से शिक्षा का प्रसार बड़ी सरलता से हो सकता था।[६] कॉलेज की वार्षिक रिपोर्टों में इस बात पर बहुत बल दिया जाता था कि उच्च कुलीन घरानों के वंशज वहाँ पढते थे। जिस समय काँग्रेस ने यह दावा प्रस्तुत किया था कि उस संगठन में मुसलमान भी सम्मिलित थे तब सर सैयद ने इसका प्रत्युत्तर यह कहकर ही दिया था कि दो मुसलमान रईसों को छोडकर कोई भी मुसलमान रईस काँग्रेस के मद्रास अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुआ था।[७] सर सैयद ने प्रजातन्त्रीय प्रणाली का विरोध आरम्भ किया किन्तु जैसे ही उन्हें भारत में प्रजातन्त्रीय प्रणाली का प्रवेश निश्चयात्मक दिखाई दिया उन्होंने मुसलमानों के विशेषाधिकारों की माँग प्रस्तुत की। लेकिन इन दोनों चरणों में एक ही बात मूल-भूत है, वह है प्रजातन्त्रीय प्रतिनिधित्व के आधार पर सम्भावित उपलब्धि की अपेक्षा अधिक अधिकारों की माँग प्रस्तुत करना। यही कारण है कि मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन में ऐसे तत्वों का प्रभाव कम रहा जो मुस्लिम जनता को प्रजातन्त्रीय प्रति-निधित्व अथवा जनसंख्या के अनुपात में अधिकारों की उपलब्धि तथा प्राप्ति की ओर मोड़ सके।

उपरोक्त दोनों आधार तथा सिद्धान्त सर सैयद द्वारा प्रतिपादित किये गये

---

५ वही, पृ ४७-४८।

६ गजट, १० अक्तूबर १८७३, पृ १५८।

७ सैयद अहमद : प्रेजेन्ट स्टेट ऑफ पॉलिटिक्स, पृ ३२-३३।

थे।[८] उनके चिन्तन के ये दोनों आधार ही निर्मूल थे। वे समस्त मुसलमानों को भारतीय शासकों की सन्तान मानकर चलते थे और उनके लिए ऐसे भविष्य की ही कल्पना करते थे जिसमें मुसलमानों को प्रशासनिक वैभव और अधिकार उपलब्ध हो सकें। ऐसे भविष्य की कल्पना के फलस्वरूप ही उन्हें प्रजातन्त्र की स्थापना में मुसलमानों के काल्पनिक हितों के लिए संकट दिखाई पड़ा।

सर सैयद और अंग्रेजी सरकार

१८५७–५८ ई० में सर सैयद ने यह अनुभव कर लिया था कि अंग्रेजों को भारतीय मुसलमानों की निष्ठा एवं भक्ति पर सन्देह था। सर सैयद का यह विश्वास था कि मुसलमान केवल नौकरियों पर निर्भर थे तथा उनकी प्रगति के लिए सरकारी आश्रय आवश्यक था इसलिए उन्होंने अपने समक्ष एकमात्र यह लक्ष्य ही रखा कि मुसलमान अंग्रेजों के कृपा-पात्र बन जाएँ। यह कार्य एक ओर अंग्रेजों को आश्वस्त करके और दूसरी ओर मुसलमानों को नई प्रेरणा देकर ही सम्भव था। उन्होंने दो ग्रन्थ 'असबाब बगावत-ए-हिन्द' और 'लायल मोहम्डन्स ऑफ इण्डिया' इसी उद्देश्य से प्रकाशित किये थे। उन्होंने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध जिहाद के नारे को अनुचित बताया। उन्होने 'लायल मोहम्डन्स' में यह कहा कि यदि भारत में किसी एक वर्ग के लोग अन्य वर्गों की अपेक्षा ईसाईयों के संकट के समय उनके साथ थे, तो वे केवल मुसलमान ही थे।[९] सैयद अहमद अंग्रेजी सरकार को यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि उसे मुसलमानों की निष्ठा एवं भक्ति पर सन्देह नहीं करना चाहिए।

दूसरी ओर उन्होंने मुसलमानो को बाइबिल पढ़ने की ओर आकर्षित करना चाहा और "तबैय्यन उल कलाम" लिखकर दोनों धर्मों की समानता स्पष्ट करनी चाही। इसी प्रकार उन्होंने "ताआम अहल-ए-किताब" लिखकर मुसलमानों और ईसाईयों को साथ बैठकर भोजन करने की प्रेरणा दी।[१०]

सर सैयद ने भारतीय मुसलमानो के विशिष्ट हितो के विषय में जो धारणा बनाई थी वह केवल अंग्रेजी सरकार की कृपा के आधार पर ही पूरी हो सकती थी। इसलिए वे प्रत्येक ऐसे अवसर से लाभ उठाना चाहते थे जिससे मुसलमान अंग्रेजों के कृपा-पात्र बन सकें। सर सैयद आरम्भ में बड़े स्वाभिमानी व्यक्ति थे।[११] लेकिन

---

८. यह दो आधार थे : भारतीय मुसलमानो का भूतपूर्व शासन होना तथा उनका भारत के बाहर से आना।

९ लॉयल मोहम्मडन्स, भाग १, पृ ३

१०. यह दोनों पुस्तकें १८६०–१८६७ ई० के मध्य लिखी गई थी।

११. कहा जाता है कि सैयद अहमद एक बार आगरे में आयोजित गवर्नर के दरबार से उठकर चले आये थे क्योंकि उनका स्थान अंग्रेजो की अपेक्षा नीचे था (हाली : हयात-ए-जावेद, पृ ५२-५३)।

जैसे-जैसे उन्होंने मुसलमानों के उत्थान के लिए अंग्रेजी राज्य के आश्रय को आवश्यक समझा वैसे-वैसे अंग्रेजों के प्रति व्यवहार में उनकी हीन भावना बढ़ती गई। १८६६ई० में लन्दन से भेजे गए अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा :

"हम जो भारत में अंग्रेजों को……… यह कहते थे कि अंग्रेज भारतीयों को बिल्कुल जानवर समझते हैं……… यह हमारी गलती थी। वे हमको समझते ही नहीं थे बल्कि वास्तव मे हम ऐसे ही हैं। मैं अत्यन्त सच्चे दिल से कहता हूँ कि समस्त भारतीयों को……… अंग्रेजों की शिक्षा और सभ्यता की तुलना में वास्तव में ऐसा ही स्थान प्राप्त है जैसा एक अत्यन्त गन्दे पशु को एक योग्य और सुन्दर व्यक्ति की तुलना में उपलब्ध होता है। अंग्रेज हम भारतीयों को भारत में असभ्य पशु की भाँति क्यों न समझें।……… यदि यह कल्पना करो कि भारतीय और अंग्रेज एक स्वतन्त्र देश में बसाये जाएँ……… तो अंग्रेज कदाचित् भारतीयों के पास भी खड़े न हों और उन्हें पशुओं से अधिक न समझें……"[१२] इस प्रकार की हीनता की भावना बहुत कम उत्तरदायी भारतीयों ने व्यक्त की थी।

१८७१ ई० में हन्टर की पुस्तक "दी इण्डियन मुसलमान्स" प्रकाशित हुई जिसमें स्पष्ट लिखा था कि भारत में मुसलमान बहुत समय से अंग्रेजी प्रशासन के विरुद्ध षड्यन्त्र करने की योजना बना रहे थे। सर सैयद ने बड़े जोरदार शब्दों में कई लेख लिखकर डॉ० हन्टर की पूर्व धारणाओं की आलोचना की। उसी समय जिहाद की समस्या पर भी कुछ अंग्रेजी अखबारों में चर्चा चल रही थी। मुख्य प्रश्न यह था : क्या मुसलमान अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध "जिहाद" आरम्भ करने के अधिकारी थे ?

सर सैयद ने कुरान और हदीस से कुछ आयतों का मनमाने ढंग से अर्थ निकाल कर यह बताने का प्रयत्न किया कि अंग्रेजों के अधीन भारत दारुल इस्लाम और दारुल हर्ब दोनों था।[१३] दारुल इस्लाम में मुसलमानों को जिहाद का अधिकार नहीं था। सर सैयद के तर्क निःसन्देह बड़ी चतुराई के साथ प्रस्तुत किये गये थे। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि मुसलमान और ईसाई सदा से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे।[१४] भारतीय मुसलमानों को जबतक अंग्रेजी सरकार में 'उमम' (संरक्षण) प्राप्त था उस समय

१२ गजट, १९ नवम्बर १८६६, पृ ७४३-७४५ यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में मोहसिन उलमुल्क को लिखी थी (खुतूत-ए-सर सैयद, पृ ४१)

१३ यह दोनों वाक्य इस्लामी चिन्तन में प्रमुख स्थान रखते हैं। दारुल हरब का अर्थ उस देश से होता है जहाँ राजसत्ता गैर मुसलमानों के हाथों में होती है और मुसलमान उसके अधीन रहते हों। दारुल इस्लाम वह देश है जहाँ सत्ता मुसलमानों के हाथों में होती है।

१४. मध्यकाल में हुए क्रुसेड्स को बड़ी सरलता से सर सैयद अहमद भूल गये थे। विभिन्न मुस्लिम नेताओं ने यह बात स्वीकार की थी कि मुसलमानों और ईसाईयों में धार्मिक मतभेद के कारण शत्रुता थी। मोहम्मद अमीन जुबेरी : सियासत मिलिया, पृ ४।

तक मुसलमान अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद नही कर सकते थे।

सर सैयद अहमद का प्रमुख लक्ष्य मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति निष्ठा और भक्तिभाव पैदा करना था। १८७१ ई० में गठन की गई मोहम्मडन कॉलेज के लिए चन्दा इकट्ठा करने वाली समिति का एक लक्ष्य मुसलमानों को ऐसी शिक्षा प्रदान करना था जिससे वे अंग्रेज़ी प्रशासन की उपलब्धियों को अच्छी प्रकार से समझ सकें तथा उनके प्रति आभारी बन सकें। अलीगढ़ कॉलेज के क्रेस्ट पर नया चांद और 'ताज' अंकित था जो अंग्रेजों और मुसलमानों की मैत्री का द्योतक था।[१५] मुसलमान नेताओं तथा कॉलेज के अंग्रेज अध्यापकों ने इस बात पर काफी बल दिया था कि अलीगढ़ कॉलेज की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अंग्रेज़ी सरकार तथा 'ताज' के प्रति भक्ति एवं निष्ठा की भावना जागृत करना था।[१६] सर सैयद चाहते थे कि मुसलमान और अंग्रेजों में दोस्ती इतनी गहरी हो जाय कि वे दो शरीरों में एक आत्मा की भांति मिलकर कार्य करें। यह बड़े गर्व से घोषित किया जाता था कि आवश्यकता पड़ने पर कॉलेज के बहादुर युवक साम्राज्य की सुरक्षा के लिए पूरी सहायता देंगे।[१७]

सरकार का स्वरूप :

सरकार के कार्यक्षेत्र को सर सैयद केवल शान्ति स्थापना तक सीमित समझते थे। वे चाहते थे कि सरकार कम से कम कार्यों को अपने हाथ में ले क्योंकि जितने अधिक कार्य वह अपने हाथ में लेगी उतने ही अधिक विस्तृत क्षेत्र पर उसकी आलोचना होगी और सरकार के प्रति लोगों में असन्तोष जागृत होगा। उनका अभिप्राय सरकार को मुसलमानों में विशेषकर लोकप्रिय बनाने का था। वे सरकार पर शिक्षा का दायित्व नहीं डालना चाहते थे। वे उन लोगों से सहमत नही थे जिनका विचार था कि सरकारी सहायता कम हो जाने से मुसलमानों की शिक्षा प्रगति में बाधा पड़ेगी। उनका कहना था कि सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न केवल सांकेतिक ही हो सकते थे। इसलिए वे सरकार के समक्ष किये गये उन अनुरोधों के पक्ष में नहीं थे जिनका अभिप्राय मुसलमानों की समस्त शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर डाल देना था। वे यहां तक कहने को तैयार थे कि यदि सरकार उच्च शिक्षा के लिये स्थापित कालेजों को समाप्त भी कर दे तब भी कोई हानि नहीं थी।[१८] वे केवल सरकार से उन प्रयत्नों

---

१५. सर सैयद को यह विचार लन्दन के उस महल को देखकर पैदा हुआ था जहां तुर्की के सुल्तान अब्दुल अजीज का स्वागत हुआ था। उसकी दीवारों पर क्रीसेन्ट (नयाचांद) और क्रास के निशान लगाये गये थे। रिपोर्ट, मोहम्मडन एजुकेशनल कान्फरेन्स, १८९४, पृ १३०।

१६. अलीगढ़ कॉलिज मेगजीन, जुलाई १८९४, पृ १।

१७ गजट, १५ अगस्त १८९३, पृ- ८११।

१८. गजट, ५ नवम्बर १८८१, पृ १२५९-१२६०. यहां उनका अभिप्राय उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के तीन सरकारी कॉलिजों (आगरा, इलाहाबाद, बनारस) से था। इसका एक परोक्ष परिणाम यह भी था कि हिन्दुओं को भी अपनी शिक्षा के लिए उसी प्रकार प्रयास करने पड़े गे जिस प्रकार सर सैयद कर रहे थे।

में सहायता चाहते थे जो जनता द्वारा किये जाएं। वे यह स्वीकार नहीं करते थे कि भारतीय लोग निर्धनता के कारण अपनी सहायता स्वयं नहीं कर सकेंगे।[१९] अलीगढ़ आन्दोलन प्रारम्भ किये जाने के पश्चात् उन्होंने निरन्तर "अपनी सहायता स्वयं" पर अत्यधिक बल दिया था। वे जानते थे कि मुसलमान सामन्त मध्यकाल में सरकार पर पूरी तरह आश्रित थे इसलिए मुसलमानों को अपनी सहायता पर निर्भर बनाना अत्यन्त आवश्यक था। उन्होंने कई अवसरों पर इस बात को दोहराया कि अपनी उन्नति के साधनों को यदि दूसरों पर छोड़ दिया जावेगा तो वह सम्प्रदाय कभी पूरी तरह उन्नति नहीं कर सकेगा।[२०] इस "अपनी सहायता स्वयं" का एक दूसरा लक्ष्य भी था और यह था मुसलमानों में कौमियत की भावना भरना। १८८४ ई० में वे विजागापट्टम् के मुसलमानों का हिन्दुओं तथा ईसाईयों से एक मुस्लिम कॉलेज के लिये चन्दा मांगने के विरुद्ध थे।[२१] १८८६ ई० में बंगाल के मुसलमानों द्वारा सरकारी सहायता पर निर्भर रहने की योजना का भी उन्होंने विरोध किया था।[२२] राजनीतिक दृष्टि से मुसलमानों को पृथक् रूप से संगठित नहीं किया जा सकता था जबतक उन्हें प्रगतिशील एवं सम्पन्न हिन्दुओं पर निर्भरता से अलग न कर लिया जाये। इसलिए "अपनी सहायता स्वयं" के सिद्धान्त पर उन्होंने कई उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बल दिया था।

अंग्रेजों के प्रति अटूट निष्ठा एवं भक्ति व्यक्त करने के लिए मुसलमानों को दो प्रकार के अवसर उपलब्ध हो सकते थे। एक अवसर देश में प्रजातन्त्र तथा प्रतिनिधित्व प्रणाली के आन्दोलन का विरोध करके उपलब्ध हो सकता था। इसके अन्तर्गत अंग्रेजी सरकार द्वारा स्थापित नीतियों का समर्थन भी सम्मिलित था। दूसरा अवसर किसी भी मुस्लिम अथवा गैर मुस्लिम विदेशी राज्य के विरुद्ध अंग्रेजों का समर्थन करने से उपलब्ध हो सकता था। सर सैयद ने इन दोनों अवसरों का लाभ उठाया।

सर सैयद द्वारा प्रतिपादित मुसलमानों के तथाकथित हितों का पोषण किसी भी प्रजातन्त्रीय प्रतिनिधित्व अथवा प्रतियोगिता के आधार पर नहीं किया जा सकता था। मुसलमानों पर १८५७ की क्रान्ति के उत्तरदायित्व के दोष को अंग्रेजों के प्रति भक्त रहकर ही मिटाया जा सकता था। इसलिए किसी भी ऐसे आन्दोलन का समर्थन करना जो अंग्रेजी सरकार विरोधी हो अथवा विरोधी दिखाई दे, सर सैयद के लिये असम्भव था।

सर सैयद ने लाहौर में १८७३ ई० में भाषण देते हुए कहा था कि मुसलमानों

---

१९ गजट, २० अक्टूबर १८७७, पृ ८७२।

२०. गजट, २४ दिसम्बर १८६६, पृ ८३२, ३१ मई १८७२, पृ ३३४, २५ अक्टूबर १८७२, पृ. ६६२, २० अप्रैल १८८०, पृ ४५१, २३ मार्च १८८०, पृ ३३४; ७ मार्च १८८२, पृ २६०।

२१. गजट, २३ फरवरी १८८४, पृ १६८-१६६।

२२ गजट, २० अप्रैल १८८६, पृ ४५६।

का अंग्रेजों से शत्रुता रखना वैसा ही होगा जैसा नदी में रहकर मगरमच्छ से बैर रखना। इसलिए उनके लिये यह आवश्यक है कि वे उनसे मैत्री रखें।[२३] अलीगढ़ नेताओं का रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण १८७८ ई० के वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट के अवसर पर स्पष्ट हुआ। सर सैयद अहमद ने मुसलमानों को इस अधिनियम का विरोध करने से मना किया और इस अधिनियम को बहुत उदार बताया क्योंकि यह नियम तुर्की, रूस आदि देशों में उपलब्ध प्रेस की स्वतन्त्रता से तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता था। उनके अनुसार एक स्वतन्त्र प्रेस का प्रमुख कार्य देश की सरकार के प्रति भक्त रहना था। उनका विचार था कि यह अधिनियम बहुत पहले ही पास कर दिया जाना चाहिए था[२४] क्योंकि भारत की वर्नाक्यूलर प्रेस ऐसी भाषा का प्रयोग करती रही थी जो सम्मानित व्यक्तियों तथा सरकारी कर्मचारियों के लिए आपत्तिजनक थी। इसी प्रकार उन्होंने अंग्रेजों के प्रति अपनी हीनता का परिचय इल्बर्ट बिल के विरोध के अवसर पर दिया था। उस समय उन्होंने यह परामर्श दिया था कि यद्यपि एंग्लोइण्डियन समुदाय इस नियम का विरोध कर रहा था फिर भी उन्हें इस अधिनियम के पक्ष में कोई प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। किसी भारतीय का, सैयद अहमद के विचार से, सम्मान नहीं बढ़ जायगा यदि अंग्रेजों के मुकदमे उसके समक्ष प्रस्तुत होने लगें उन्हें यह ही भय था कि कहीं मुसलमानों की निष्ठा एवं भक्ति पर सन्देह न हो जाये।[२५] इसी प्रकार स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए सैयद अहमद ने कहा कि यह आन्दोलन प्रकृति के विरुद्ध था क्योंकि यदि विदेशी वस्तुएं अधिक सुन्दर बनी हुई हों तो अवश्य ही उनका प्रयोग अधिक होगा। इस आन्दोलन में देश भक्ति की कोई बात उन्हें नहीं दिखाई दी।[२६] इतना ही नहीं बल्कि उन्हें इस बात पर अत्यधिक आश्चर्य हुआ था कि कलकत्ता टाउन हॉल में आयोजित एक साधारण सभा में इंगलैण्ड की लिबरल पार्टी को चुनाव में सफलता पर बधाई दी गयी। एक अन्य अवसर पर उन्होंने लिखा था कि यह विचार उचित नहीं था कि लिबरल सरकार भारत के लिए लाभदायक है और कन्जर्वेटिव सरकार हानिकारक है।[२७]

सर सैयद एक ओर तो मुसलमान जातीय गौरव में बहुत विश्वास रखते थे और दूसरी ओर उन्हें यह भी भय था कि प्रजातन्त्रीय तथा प्रतिनिधित्व के आधार पर मुसलमान भारत में एक गौण स्थान प्राप्त करेंगे। इसलिए उनकी अंग्रेजों के प्रति भक्ति धीमे-धीमे अधीनता के रूप में परिवर्तित होती गयी। अलीगढ़ नेता यह समझते

---

२३. लेक्चरों का मजमुआ, पृ १०४।

२४. गजट, २३ मार्च १८७८, पृ. ३२५-३२६।

२५. गजट, ३ मार्च १८८३, पृ २४१।

२६. गजट, १६ जून १८८३, पृ. ६८५-६८७।

२७. गजट, १५ सितम्बर १८८५, पृ १०१८।

लगे थे कि प्रजातन्त्र के आगमन पर मुसलमानों के 'ऐतिहासिक योगदान' को केवल अंग्रेज ही सुरक्षित रख सकते थे।

इसलिए सर सैयद भारत को एक ऐसी तराजू के समान समझते थे जिसके दोनों पलड़े असन्तुलित थे। उनके अनुसार एक विदेशी शक्ति रूपी बटखरे की आवश्यकता थी जिससे हल्का पलड़ा भारी पलड़े के बराबर बन सके। वह अंग्रेजों को भारतीय जनसंख्या की विभिन्न जातियों में उचित सन्तुलन बनाये रखने के लिये आवश्यक समझते थे।[२८] उन्होंने बहुत पहले यह घोषित कर दिया था कि यदि हिन्दुओं और मुसलमानों में से किसी एक जाति का अधिकार भारत में स्थापित हो गया तो एक दिन के लिये भी शान्ति स्थापित न रह सकेगी। इसलिए मुसलमानों के हित में यह ही था कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य स्थायी बना रहे।[२९] अंग्रेजों के प्रति उनमें भक्तिभाव पैदा करने के लिए उन्होंने धर्म का सहारा लिया। १८८७ ई० में उन्होंने कहा था कि मुसलमानों को उस कौम के साथ दोस्ती करनी चाहिए जिनके साथ धर्म के अनुसार की जा सकती थी। उन्होंने कहा कि "ईश्वर ने आदेश दिया है कि मुसलमानों का ईसाईयों के अतिरिक्त कोई और मित्र नहीं बन सकता।"[३०] १८८८ ई० में सर सैयद ने अंग्रेजी सरकार के प्रति निष्ठा का आधार भी कुरान बताया था। 'ईश्वर ने अंग्रेजों को हम पर शासक बनाया है इसलिए हमें उनसे मैत्री सम्बन्ध रखने चाहिए और ऐसे साधन अपनाने चाहिए जिनसे उनका प्रशासन और साम्राज्य दृढ़ एवं स्थायी बना रहे'।[३१] एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा : 'ईश्वर की इच्छा है कि अंग्रेजी कौम हिन्दुस्तान में राज्य करे।'[३२]

सर सैयद अंग्रेज सरकार के प्रति भक्तिभाव को धार्मिक कर्तव्य समझते थे। जालन्धर में १८८४ ई० में एक भाषण में उन्होंने अपने कार्यों का स्वयं गुणगान करते हुए कहा था

"मैंने सरकार की कोई सेवा नहीं की बल्कि जो कुछ मैंने किया है वह अपने पवित्र धर्म और सच्चे हादी (धार्मिक मार्ग-दर्शक) की आज्ञाओं का पालन किया है। हमारे सच्चे हादी ने आदेश दिया है कि तुम जिस सरकार के अधीन हो उसकी आज्ञा का पालन करो.......जो कुछ सरकार की सेवा मुझसे हुई है वह वास्तव में मेरे धर्म की सेवा थी।"[३३]

एक दूसरे अवसर पर उन्होंने कहा था :

"हमें देखना चाहिए कि ईश्वर की इच्छा क्या है.......इस समय में हमें ईश्वर

---

२८ गजट, २० जनवरी, १८८३, पृ ७८-८०।

२९ गजट, १० सितम्बर १८८१, पृ १०२१, सफरनामा, पृ. १२४-१२५।

३० सैयद अहमद : प्रेजेन्ट स्टेट ऑफ पॉलिटिक्स, पृ ४६

३१ वही, पृ ५०-५२।

३२ सफरनामा-ए-पंजाब, पृ ११२, २६२ ; लेक्चरों का मजमुआ, पृ १६।

३३. सफरनामा-ए-पंजाब, पृ ४६ तथा पृ २६१-२६२।

की मर्जी यह प्रतीत होती है कि अंग्रेजी नेशन भारत में राज्य करे और हम उनके अधीन रहें और जो कुछ लाभ सम्भव हो उनसे प्राप्त करें।"[३४]

सर सैयद और प्रतियोगिता परीक्षाएँ :

सर सैयद अहमद का लक्ष्य उन उच्चकुलीन मुसलमानों तक सीमित था जो मध्य काल में राज्य के साधनों पर अधिकांशतः निर्भर करते थे। उन्होंने १८५८ ई० में स्पष्ट लिखा कि देशवासियों के लिए नौकरी ही सबसे अच्छा व्यवसाय था। उनका यह भी तर्क था कि सब मुसलमान मध्यकाल में नौकरी पर निर्भर थे।[३५] उन्हें अंग्रेजी प्रशासन से सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि मुसलमानों को अब वह सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था जो कुछ वर्षों पहले था। वे मुसलमानों को वही स्थान दिलवाना चाहते थे।

१८५८ ई० में भी सर सैयद ने दो तर्क प्रस्तुत किये थे। उनका एक तर्क अपने सहधर्मियों के लिए था जिसमें उनका कहना था कि परीक्षाओं द्वारा नौकरी प्रदान करने की पद्धति खराब नहीं थी। यदि उनमें वे योग्यताएँ नहीं हैं जिनसे वे परीक्षा पास कर सकें तो उनका सरकार को दोष देना अनुचित था। अपने दूसरे तर्क में वे सरकार से यह पूछते थे कि क्या इङ्गलैण्ड में सर्वोच्च कूटनीतिज्ञ वे व्यक्ति ही थे जो परीक्षाओं द्वारा भर्ती किये गये हों? क्या बहुत से उच्च पदों पर ऊँचे कुल के लोगों को केवल जन्म के आधार पर ही नियुक्त नहीं किया जाता था?[३६]

इन दोनों तर्कों से उनका लक्ष्य उन मुसलमानों के वंशजों की खोई हुई स्थिति को पुनः प्राप्त करना था जिनके पूर्वज मध्यकाल में सम्मानपूर्ण पदों पर आसीन थे। सर सैयद का यह दृढ़ विश्वास था कि किसी समुदाय अथवा जाति को उस समय तक सम्मान नहीं मिल सकता जबतक उसके सदस्य सरकार में उच्च पदों पर नियुक्त न हों। उनका कहना था कि मुसलमान यदि अपनी जाति का सम्मान चाहते थे तो उन्हें इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि उनकी जाति के लोग सिविल सर्विस के पदों पर नियुक्त हो सकें।[३७] आरम्भ में सर सैयद इस बात के लिये प्रयत्नशील रहे कि मुसलमान युवक प्रतियोगिता परीक्षाओं के माध्यम से नौकरी प्राप्त कर लें। जून १८६६ ई० में लन्दन से पत्र लिखते हुए सर सैयद अहमद ने लिखा कि दो हिन्दू बम्बई से सिविल सर्विस परीक्षा के लिये आये है खेद है मुसलमान पीछे रह जाते है।[३८] सरकारी नौकरी से पेन्शन प्राप्त कर लेने के बाद १८७७ ई० में उन्होंने उन सरकारी नियमों की आलोचना की जिनके अनुसार प्रतियोगिता में भाग लेने वाले अभ्यर्थियों

---

३४. सफरनामा-ए-पंजाब, पृ० ११२।
३५. असबाब, पृ० ३५ तथा ४४।
३६. वही, पृ० ४४-४५।
३७. गजट, ७ अगस्त १८८३, पृ० ८६७; सफरनामा, पृ० ७७।
३८. खतूत-ए-सर सैयद, पृ० २५।

की अधिकतम आयु २१ वर्ष से घटाकर १९ वर्ष कर दी गयी थी। उन्होंने विभिन्न स्थानो पर सभायें करने तथा इस नियम के विरुद्ध प्रस्ताव पास करने पर बल दिया।[३९] उन्होने ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन को पुनर्जीवित किया और भारत में भी इन परीक्षाओ के करने पर बल दिया।[४०] १८७७ ई० मे लार्ड लिटन द्वारा बनाये गये स्टेटयूटरी सिविल सर्विस के नियमों की प्रसंशा करते हुए सर सैयद ने यह भेद प्रकट किया था कि इससे "मुसलमान अपने दुर्भाग्य के कारण बहुत कम फायदा उठायेंगे"[४१] क्योंकि उनमें बी. ए. अथवा एम. ए. पास व्यक्तियों की सख्या कम है। १८८१ ई० मे इण्डियन सिविल सर्विस के परिणाम पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा था कि उम्र कम कर देने के कारण भारतीयों को सिविल सर्विस की परीक्षा में सफलता मिलना अत्यन्त कठिन हो गया था।[४२] सर सैयद आई सी एस के गठन को ही पसन्द नही करते थे और इस पद्धति को देश तथा सरकार दोनों के लिए हानिकारक समझते थे।

१८८३ ई० मे उन्होने एक मोहम्मडन सिविल सर्विस फण्ड की स्थापना की जिसमे प्रत्येक मुसलमान सदस्य को दो रुपये महीना चन्दा देना होता था। इस चन्दे से योग्य मुसलमान विद्यार्थियो को सिविल सर्विस प्रतियोगिता के लिये इङ्गलैण्ड भेजने की व्यवस्था की गई।[४३] इस योजना का सबसे बडा लाभ यह था कि जब कोई भी ऐसा विद्यार्थी जिसे कौम के इस चन्दे से इङ्गलैण्ड भेजा गया हो सफलता प्राप्त कर लेगा तब वह यह अनुभव करेगा कि उसे सम्मानित पद प्राप्त कराने मे उसकी कौम का सबसे अधिक योगदान था। वह अपनी पूरी सामर्थ्य से कौम की मदद करेगा और यदि इस प्रकार के २०० या ३०० मुसलमान भी हो गये तब मुसलमानों की कौम क्या से क्या हो जायेगी।[४४] इसी उद्देश्य से अगस्त १८८३ ई० के पश्चात् अलीगढ़ कॉलेज में सिविल सर्विस की तैयारी के लिए विशेष क्लास खोली गई थी यद्यपि सैयद अहमद को यह विश्वास था कि सिविल सर्विस की परीक्षा में सफल होना

---

३९. गजट, २३ मार्च १८७७, पृ० १८७ १८८।

४०. गजट, सप्लीमेन्टरी अंक, २९ जून १८७७, पृ० १-४।

४१. गजट, [illegible] सितम्बर १८७९, पृ० १००९-१०१०।

४२. गजट, ५ नवम्बर १८८१।

४३. गजट, ११ अगस्त १८८३, पृ० ९१०-९१२

४४. गजट, ५ जनवरी १८८४, पृ० २८। जब सर सैयद से १८८४ ई० मे यह पूछा गया कि उसने इस योजना को केवल मुसलमानो तक ही क्यो सीमित रखा ? तब सर सैयद ने भिन्न औचित्य प्रस्तुत किया था और कहा कि मुसलमान विलायत जाने मे कोई आपत्ति नही समझते थे। यह तथ्यो के विपरीत था क्योकि उनके भाषण [illegible] अन्त में जब उन्हे यह बताया गया कि हिन्दुओ को इस विषय मे कोई आपत्ति नही थी, उस समय भी सर सैयद ने यह नहीं कहा था कि दोनो कौमो के लिए एक सम्मिलित योजना बनाई जा सकती थी। अतः स्पष्ट है कि सर सैयद सत्य बात नहीं कह रहे थे। सफरनामा, पृ० १४०-१४१।

अत्यन्त कठिन था। फरवरी १८८४ ई० में सैयद अहमद ने कहा कि प्रतियोगिता की परीक्षा के लिए आयु घटा देने की शिकायत उचित है लेकिन यदि आयु की सीमा न भी बढ़ाई जाये तब भी निराश नहीं होना चाहिए " "" आयु की सीमा घटा देने से परीक्षा के परिणाम में भारतीयों को क्या हानि है? १६ वर्ष की आयु में जिस प्रकार भारतीयों के ज्ञान की पूरी उन्नति नहीं होती उसी भाँति एक यूरोपियन के ज्ञान की भी नहीं होती · "" इसलिए १६ वर्ष की आयु से डरना और निराश हो जाना अनुचित है।[४५] मई १८८४ ई० में सर सैयद ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के साथ परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले अभ्यर्थियों की आयु घटाने का विरोध किया था। लेकिन शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव हो गया कि खुली प्रतियोगिता में मुसलमान विद्यार्थी वह स्थान प्राप्त नहीं कर सकते जो वे उनके लिए चाहते थे। गणित विषय में जो प्रतियोगिता परीक्षाओं में विशेष महत्त्व रखता था मुसलमान विशेषकर दुर्बल रहते थे और शास्त्रीय भाषाओं (परीक्षा का एक दूसरा विषय) में निपुणता प्राप्त करने में भी वे पीछे रह जाते थे।[४६] इसलिए सर सैयद ने स्वयं ही प्रतियोगिता मूलक भर्ती का विरोध किया था।

१८८७ ई० के अन्त में लखनऊ तथा मार्च १८८८ ई० में मेरठ के भाषणों में सर सैयद ने सिविल सर्विस में प्रतियोगिता के आधार पर भरती करने के सिद्धान्त की भी आलोचना की थी। उन्होंने लखनऊ में कहा कि प्रतियोगिता के आधार पर परीक्षाओं का परिणाम यह होता है कि उच्च कुलों के तथा साधारण एवं निम्न कुलों के लोग समान स्तर प्राप्त कर लेते हैं। उच्च कुल के लोग कभी भी निम्न कुल के व्यक्तियों के अधीन नहीं रहना चाहेंगे। उन्होंने तीन पूर्व शर्तें रखी जिनके पूरा होने के पश्चात् ही प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर सेवाओं की भरती की जानी चाहिए। पहले उस देश में एक कौम के सदस्य रहते हों। "उस देश में यदि कई कौमों के लोग रहते हों जैसे भारत में हिन्दू, बंगाली, मराठा आदि, तब उस समय तक प्रतियोगिता परीक्षाएं नहीं होनी चाहिए जबतक ये कौमें एक कौम न बन जायें, अथवा वे सब कौमें समान योग्यता उपलब्ध न कर चुकी हों"""क्या मुसलमान अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने में उस स्थान तक पहुँच चुके हैं जो हिन्दुओं को प्राप्त है? कदापि नहीं"" जब ऐसी स्थिति है तो प्रतियोगिता परीक्षाएं कैसे आरम्भ की जा सकती है?""""" इसका परिणाम यह होगा कि सब जातियों (मुसलमान तथा राजपूत जो अपने पूर्वजों की तलवार को नहीं भूले हैं) के ऊपर बंगाली स्थापित होंगे जो एक साधारण छुरी

---

४५. सफरनामा, पृ० २८०-२८१।

४६. अलीगढ़ आन्दोलन के एक नेता मौलवी समीउल्लाखा को १८८३ ई० में डिस्ट्रिक्ट जज के पद पर सरकार ने नियुक्त किया था इस नियुक्ति की बंगाली प्रेस में इस आधार पर तीव्र आलोचना हुई कि वे अंग्रेजी भाषा से परिचित नहीं थे। इससे सर सैयद तथा अन्य नेता बहुत क्षुब्ध हुए और प्रतियोगिता पद्धति के विरोधी बन गये। बाद में कॉलेज के अंग्रेज अध्यापकों का योगदान भी इस विरोध के पक्ष में रहा।

थी और यदि उसे स्थापित किया गया तो यह अत्यन्त खराब होगी।[५८]

१८८३ ई० में मध्यप्रदेश के स्थानीय स्वशासन बिल पर विचार-विमर्श के समय सर सैयद अहमद खां ने भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में कहा था कि "इंगलैण्ड की प्रतिनिधि-प्रशासन प्रणाली को अपनाते हुए हमें उन सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिये जिनमें भारत इंगलैण्ड से भिन्न है"...... निर्वाचन पद्धति द्वारा प्रतिनिधित्व प्रणाली का अर्थ केवल जनसंख्या के बहुमत के हितों और दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व होना है। लेकिन भारत में जहाँ विभिन्न जातियों का मिलन नहीं हुआ है और धार्मिक मतभेद अत्यन्त जटिल है वहाँ निर्वाचन प्रणाली का परिणाम विभिन्न महत्त्वपूर्ण दोषों को जन्म देना है......और जबतक जाति, धर्म और वर्गों के मतभेद भारत के सामाजिक, राजनीतिक जीवन को तथा उसके निवासियों को प्रभावित करते रहेंगे, साधारण निर्वाचन पद्धति स्वीकार नहीं की जा सकती।"[५९]

अलीगढ़ नेताओं का यह भी तर्क था कि प्रजातन्त्र का परिणाम पालियामेन्ट में तथा देश में दो दलों का निर्माण होना है। यदि दो से अधिक दल हों तब प्रजातन्त्र असफल होता है। उन्होंने इस तर्क को और आगे बढ़ाकर यह भी कहा कि यह दोनों दल भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों के होंगे।[६०] यह तर्क अत्यन्त भयानक था तथा समस्त राजनीति को साम्प्रदायिक आधारों पर ढालने के लिये उत्तरदायी हुआ। इस आधार पर मुसलमानों के लिए राजनीतिक भविष्य अत्यन्त भयानक रहा क्योंकि एक अल्पसंख्यक दल (मुसलमान) बहुसंख्यक (हिन्दू) दल नहीं बन सकता था। यह तर्क उस समय मुसलमानों को स्वाभाविक लग सकता था लेकिन यह गलत था क्योंकि राजनीतिक दलबन्दी के लिये धार्मिक आधार आवश्यक नहीं था। भारतीय राजनीति में इस प्रकार का तर्क पहली बार सैयद अहमद खां ने ही प्रस्तुत किया था। राजनीतिक अथवा आर्थिक आधारों की अपेक्षा धार्मिक आधारों पर राजनीतिक दलबन्दी का गठन सैयद अहमद खां तथा उनके अनुयाइयों की ही देन है।

इस प्रकार वे आधार तैयार हुए जिन पर अधिकांश मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन आधारित रहा। मुसलमानों के विशिष्ट हितों को बहुसंख्यक हिन्दुओं से कल्पित भय की ऐसी गुत्थी खड़ी कर दी गयी जिसे उस समय तक हल नहीं किया जा सकता था जबतक 'विशिष्ट अधिकारों' और हितों का विचार खण्डित न कर दिया जाये। सर सैयद का नेतृत्व और मुसलमानों की विशिष्ट सुविधाओं का आकर्षण इतने प्रभावशाली हुए कि कोई मुस्लिम विचारक उस समय तक मुसलमानों में प्रभावशाली नहीं बन सका जबतक उसने इन विचारों का समर्थन न किया।

---

५८. गजट, २३ नवम्बर, १८८६, पृ० १३३७-१३३६।

५९. वही, २० जनवरी, १८८३, पृ० ७८-८०।

६०. वही, २३ नवम्बर, १८८६, पृ० १३४०।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस का विरोध :

प्रजातन्त्रीय प्रणाली तथा प्रतिनिधित्व सिद्धान्त और प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर सेवाओं की भरती के विरुद्ध होने से कोई ऐसा आधार ही शेष नहीं था जिस पर सर सैयद कांग्रेस से सहमत हो सकते। एक राजनीतिक संगठन बन जाने तथा उसे सरकार का ऊपरी समर्थन उपलब्ध होने से सर सैयद को अपना स्वप्न टूटता दिखायी पड़ा। उन्होंने अनुभव किया कि यदि कांग्रेस की कुछ माँगे स्वीकार हो गयी तो मुसलमानों के उस वैभव के स्वप्न को जिसे उन्होंने पुनः स्थापित करने की सोच रखा था कभी साकार नहीं किया जा सकेगा। दूसरी ओर प्रतिनिधित्व प्रणाली का परिणाम यह होगा कि शैक्षणिक योग्यता तथा सम्पन्नता में बढ़े हुए होने के कारण हिन्दुओं को उच्च स्थान अधिक मात्रा मे उपलब्ध होंगे।

इसीलिए वे समस्त आक्षेप जो उन्होंने बंगालियों तथा कांग्रेस आन्दोलन समर्थकों पर लगाये उचित नहीं थे। उन्होने कांग्रेस आन्दोलन को बंगाली मित्रों द्वारा मुसलमानों को कुचलने का प्रयास बताया। उन्होंने इसकी तुलना एक गृहयुद्ध से की क्योंकि गृहयुद्ध का अभिप्राय भी शक्ति का हस्तान्तरण होता है। वह यह सहन नहीं कर सकते थे कि हिन्दुओं को प्रशासन में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो जायें इसलिए उन्होंने निर्वाचन पद्धति का विरोध किया था। उन्होंने अपने लखनऊ भाषण मे कहा कि निर्वाचन पद्धति के क्या परिणाम हुए? किसी भी नगर में हिन्दू और मुसलमान समान रूप से निर्वाचित नहीं हुए हैं।[६१] मेरठ मे भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि प्रतिनिधित्व प्रणाली उसी समय सम्भव थी जबकि शासक और प्रजा एक ही कौम के हों। ऐसे देश मे जहाँ विदेशी शासन करते हो प्रतिनिधित्व आधार पर शासन की स्थापना की कल्पना व्यर्थ है तथा ऐसा उदाहरण विश्व के इतिहास में देखने को नहीं मिलता था।

सर सैयद और राजनीतिक संगठन :

सर सैयद मुसलमानो को ऊँचे पदो पर नियुक्त देखना चाहते थे जिससे वे उस खोये हुए वैभव को प्राप्त कर सकें जो उन्हें १७वी शताब्दी मे प्राप्त था। सर सैयद कुलीन मुसलमान वंशो के उत्थान का आधार केवल अंग्रेजों की कृपा ही समझते थे। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त आवश्यक योग्यता वाले बहुत से मुसलमान युवको की संख्या बढ जाने को वे मुसलमानो की प्रगति के मार्ग मे बड़ी उपलब्धि मानते थे।

अंग्रेजों के प्रति भक्ति की नीति के फलस्वरूप सर सैयद अंग्रेज प्रशासकों से उदार व्यवहार की आशा करते थे। वे किसी भी स्थिति में हिन्दुओं से पीछे नहीं रहना चाहते थे। उनकी इस महत्त्वाकांक्षा को केवल अंग्रेज ही पूर्ण कर सकते थे। अलीगढ आन्दोलन के एक अन्य नेता हाजी मोहम्मद इस्माइल खाँ ने कहा : "सज्जनों,

---

६१. सैयद अहमद : प्रेजेन्ट स्टेट, पृ० २२।

आज वह समय नहीं है कि हम भूतकाल की भाँति शान्त रहें। हमारे देश की दूसरी कौम अर्थात् हमारे देशीय हिन्दू भाई हमसे बहुत आगे बढ़ना चाहते हैं.........यदि हम अपनी पुरानी पॉलिसी न छोड़ेंगे और अपने अधिकारों की अभिव्यक्ति के स्थान पर शान्ति की नीति अपनायेंगे तो हमें अपने लिये और आगामी पीढ़ियों के लिये अत्यन्त हानिकारक परिणामों की आशा करनी चाहिए.........जबकि देश की दूसरी कौम बहुत होशियार है तो हमें भी होशियार होने की अत्यधिक आवश्यकता है।"[६२] सर सैयद अहमद ने स्वयं १८८७ ई० में लखनऊ में कहा था : "सज्जनों, अब समय ऐसा नहीं है कि हम केवल अपने होनहार पौधों के पालने से सन्तुष्ट हो जायें बल्कि समय ने प्रतियोगिता के मैदान में बहुत शक्तिशाली और योद्धा पहलवान (शिक्षित हिन्दू) खड़ा कर दिया है इसलिए जबतक हम भी अपनी कौम के नौजवानों को मैदान में न लायें हमारी सफलता सम्भव नहीं.....।"[६३] जहाँ १८८३ ई० में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इण्डियन नेशनल कान्फरेन्स की स्थापना की थी उसी वर्ष अलीगढ़ आन्दोलन के नेताओं ने भी अप्रैल १८८३ ई० में मोहम्मडन पोलिटिकल एसोसिएशन की स्थापना की। इस एसोसिएशन के उद्देश्य निम्नलिखित थे :—

(१) ब्रिटिश राज्य की भलाई के साथ-साथ मुसलमानों की सांसारिक उन्नति तथा वृद्धि के लिये प्रयत्न करना तथा इस कार्य की प्राप्ति के लिये प्रत्येक साधन जुटाना।

(२) विभिन्न विधि प्रस्तावों पर (जो व्यवस्थापिका सभा में भारतीयों की भलाई के लिये प्रस्तुत किये जाते हैं) विचार करना और आवश्यकतानुसार उनको सरकार के समक्ष अत्यन्त आज्ञाकारिता के साथ व्यक्त करना।

(३) मुसलमानों की आवश्यकताओं और अधिकारों को तथा देश की भलाई और उन्नति की योजनाओं को अत्यन्त विनीत रूप से सरकार के समक्ष प्रस्तुत करना।

(४) ऐसे कार्यों के विषय में सरकार को सूचना देना जो देश की उन्नति में बाधाजनक हों।[६४]

सैयद अहमद खाँ इस एसोसिएशन के कोषाध्यक्ष थे उन्होंने इसकी स्थापना को एक ऐसी औषधि के समान बनाया था जिसे स्वस्थ व्यक्ति इस उद्देश्य से अपने पास रखते थे कि आवश्यकता के समय काम आवे। उस समय इसकी इतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी भविष्य में पड़ सकती थी। यह संस्था केवल रईसों और सामन्तों तथा उनके वंशजों मात्र के लिये ही थी।

---

६२. मसद, ७ अप्रैल, १८८३, पृ० ३८१।

६३ लेक्चरों का मजमुआ, पृ० २४३।

६४. मसद, ७ अप्रैल, १८८३, पृ० ३८८।

यह संस्था अधिक समय तक सक्रिय नहीं रही। संभवतः यह अधिक प्रभावशाली नहीं बन सकती थी। १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् सर सैयद ने भी उसी प्रकार के एक संगठन की आवश्यकता अनुभव की। सर सैयद यह जानते थे कि मुसलमानों को किसी एक राजनीतिक मंच पर संगठित करना बहुत कठिन कार्य था क्योंकि प्रजातन्त्र और प्रतिनिधित्व सिद्धान्तों से उनका लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता था। धर्म जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे हुए था एक ऐसा संगठित राजनीतिक मन्च तैयार कराने में सहायक नहीं हो सकता था। क्योंकि इस आधार पर इसका नेतृत्व धार्मिक नेताओं के हाथों में होता और सर सैयद के धार्मिक विचारों के प्रति पहले से ही प्रतिक्रिया बहुत उग्र थी। इसलिए उन्होंने शिक्षा के नाम पर समस्त प्रान्त (कालान्तर में समस्त देश) के मुसलमानों को एकत्र करना चाहा। उन्हें यह प्रेरणा नेशनल कांग्रेस से मिली थी। इस विचारधारा के लिये पहला तर्क यह है कि १८७८ ई० उन्होंने इस प्रकार के शिक्षा सम्मेलन कान्फरेन्स का विरोध किया था।[६५] दूसरे सर सैयद ने इस कान्फरेन्स का संगठन करते समय ही अपने मित्रों से कहा था कि हम इस कान्फरेन्स में सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श नहीं कर सकते क्योंकि हम अपने में इतनी ताकत नहीं देखते।[६६] कुछ वर्षों बाद यह बात स्वीकार की गई कि मुसलमानों में कौमियत (राष्ट्रीयता) की भावना पैदा करने का इससे अच्छा कोई अन्य उपाय नहीं हो सकता था।

इस अवसर पर सर सैयद ने कहा था कि यद्यपि सब मुसलमान एक कौम के सदस्य थे लेकिन उनमें कौमियत की भावना की बहुत अधिक कमी थी। "एक स्थान के रहने वाले दूसरे स्थान के रहने वालों से ऐसे ही अपरिचित हैं जैसे कोई अजनबी कौम एक-दूसरे की स्थिति से अपरिचित हो.......एक स्थान पर एकत्र होने से और एक उद्देश्य अर्थात् कौमी भलाई, कौमी तालीम, कौमी उन्नति के लिये एकत्र होने से पुनः कौमी सहानुभूति हममें उत्पन्न हो अथवा जितनी है उसमें वृद्धि हो"[६७] इस कान्फरेन्स का उद्देश्य कौमी प्रयत्नों को संगठित करना था।

इसी कान्फरेन्स के रंगमंच से ही सर सैयद ने १८८७ ई० में नेशनल कांग्रेस का विरोध किया था। लेकिन इस विरोध को अधिक सक्रिय बनाने के लिये उन्होंने एक 'इण्डियन पैट्रिऑटिक एसोसिएशन' की स्थापना की थी। इस संगठन का लक्ष्य मुस्लिम जनमत का गठन करना तथा सामन्तीय और रूढ़िवादी तत्त्वों का राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध समर्थन प्राप्त करना था। बाद में इस एसोसिएशन के नाम में 'यूनाइटेड' शब्द और जोड़ दिया गया था। इस एसोसिएशन के निम्नलिखित उद्देश्य थे :–

---

६५. वही, २३ फरवरी १८७८, पृ० २१५-२१६।
६६. वही, ८ जून, १८८६, पृ० ६६२।
६७. एजूकेशनल कॉन्फरेन्स रिपोर्ट, १८८६ अधिवेशन, पृ० १--१६।

(१) इण्डियन नेशनल कांग्रेस के समर्थकों द्वारा किये गये उन समस्त प्रयत्नों का खण्डन करना जिनसे इंगलैंड की जनता को यह आश्वासन दिलाने का प्रयत्न किया गया था कि समस्त जनता कांग्रेस के उद्देश्यों से सहमत थी।

(२) मुसलमानों के विचारों से तथा कांग्रेस विरोधी हिन्दुओं के विचारों से इंगलैण्ड की पार्लियामेन्ट के सदस्यों को अवगत करना।

(३) अंग्रेजी राज्य को दृढ़ बनाना तथा भारत में शान्ति सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना।[६८]

सैयद अहमद इस संस्था में कुछ हिन्दू सामन्तों को सम्मिलित करने में सफल हुए। उनको आशा थी कि उनके कांग्रेस विरोधी प्रचार से अंग्रेजी सरकार इण्डियन नेशनल कांग्रेस की माँगो को ठुकरा सकेगी लेकिन १८९२ ई० में इण्डियन कौन्सिल्स एक्ट के पास हो जाने से यह स्पष्ट हो गया कि मुसलमानों के हितों के समर्थन के लिये कुछ अधिक प्रयत्नशील तथा क्रियाशील होने की आवश्यकता थी। इस प्रकार सर सैयद जो पहले कुछ न करने तथा अंग्रेजी सरकार पर पूर्ण रूप से आश्रित रहने के समर्थक थे अब कांग्रेस विरोधी प्रचार से सन्तुष्ट न होकर मुसलमानो के लिये एक संगठित राजनीतिक मंच तैयार करने में जुट गये।

यह कार्य शीघ्र ही हो गया। दिसम्बर १८९३ ई० में अलीगढ़ मे 'मोहम्मडन एंग्लो ओरियन्टल डिफेन्स एसोसिएशन' की स्थापना की गई। इस एसोसिएशन की स्थापना के दो मुख्य कारण थे। पहला यह था कि जब राष्ट्रीय कांग्रेस की कुछ माँगों को स्वीकार कर लिया गया था तो यह आवश्यक हुआ कि मुसलमानो के विशिष्ट हितो के लिये कुछ सुरक्षाओं की माँग की जाये।[६९] दूसरा यह था कि कांग्रेस की आंशिक सफलता से मुस्लिम युवा वर्ग में खलबली मचना स्वाभाविक ही था। वे अब शान्त बैठने वाले नही थे। इस वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित होने से रोकने के लिये यह आवश्यक था कि उनके मार्ग को प्रशस्त करने के लिये कोई मुस्लिम राजनीतिक संस्था भी हो।[७०] डिफेन्स एसोसिएशन का लक्ष्य मुसलमानों को एक पृथक् राजनीतिक शक्ति बना देना था। इस संस्था के निम्न उद्देश्य थे[७१] :—

(१) भारत सरकार तथा इंगलैंड की जनता के समक्ष मुसलमानों के राजनीतिक हितो की उन्नति के लिये प्रयत्न करना।

---

६८. पैट्रिओटिक एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित पैम्फलेट नं० २, परिशिष्ट १, (१८८८, इलाहाबाद)।

६९. अलीगढ़ कालेज मैगजीन, दिसम्बर १८९६, पृ० ५०९।

७०. गजट, ३० जनवरी १८९४, पृ० ११७।

७१ अलीगढ़ कालेज मैगजीन, जनवरी १८९५, पृ० २४-२५, गजट, ६ अप्रैल १८९४, पृ० ३५४-३५५।

(२) मुसलमानों में व्यापक राजनीतिक आन्दोलन को उभड़ने न देना।
(३) अंग्रेजी सरकार तथा साम्राज्य की सुरक्षा और स्थायित्व को बढ़ावा देने वाली योजनाओं का समर्थन करना।
(४) भारत में शान्ति स्थापित रखने का प्रयत्न करना और साधारण जनता में निष्ठा और भक्ति की भावना को प्रोत्साहन देना।

मोहम्मडन डिफेन्स एसोसिएशन की स्थापना सर सैयद के राजनीतिक चिन्तन का ही परिणाम थी। इसके लिए किसी भी बाह्य कारण की खोज निरर्थक है। प्रोफेसर गुरमुखनिहालसिंह का यह अनुमान है कि सर सैयद के पुत्र सैयद महमूद को बलपूर्वक इलाहाबाद हाईकोर्ट से अवकाश दिलवा देना इसके लिये उत्तरदायी था। यह सर्वथा तथ्यों के विपरीत है। सैयद महमूद पर अदालत में शराब पीने और मुकदमों में अत्यधिक विलम्ब करने तथा अदालत के नियमों का उल्लंघन करने के आक्षेप मुख्य न्यायाधीश द्वारा लगाये गये थे।[७२] उत्तर-पश्चिमी प्रान्त का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर, क्रोस्थवाइट, सर सैयद के प्रति अत्यन्त कृपालु था। इसलिए उसने यह कह कर सैयद महमूद का अपराध कम करने का प्रयत्न किया कि इस झगड़े में गलतफहमी बहुत सीमा तक उत्तरदायी थी लेकिन अन्त में उसे भी लिखना पड़ा था कि सैयद महमूद को पुनः कार्य करने की अनुमति देना असम्भव नहीं भी हो तो अनुचित अवश्य होगा।[७३] सैयद महमूद को चिकित्सकीय अवकाश पर सेवा निवृत्त कर दिया गया जिससे उन्हें पेन्शन दी जा सके। यद्यपि उसकी सेवा की अवधि इतनी नहीं थी कि उन्हें यह लाभ दिया जा सके।[७४] इस प्रकार सैयद महमूद को सेवा निवृत्त करने में भी सरकार ने सैयद अहमद के पुत्र का पक्ष लिया था।

इस एसोसिएशन ने थोड़े समय तक ही (१८९३–९६) कार्य किया। तीन वर्ष की कार्य-अवधि में इसने वे सब माँगें प्रस्तुत की जिन्हें मुस्लिम लीग ने १९०६ ई० में प्रस्तुत किया था। यदि इस एसोसिएशन के कार्यों पर ध्यान दिया जाये तो मुसलमानों के अधिकारों के विषय में सर सैयद के विचार स्पष्ट हो जाते हैं। वे चाहते थे कि प्रतियोगिता के आधार को समाप्त करके मुसलमान छात्रों को रुड़की इन्जिनियरिंग कॉलेज में भर्ती किया जाये। १८९६ ई० में मुस्लिम मांगों का एक विस्तृत ब्योरा तैयार किया गया जिसमें व्यवस्थापिका सभा, म्यूनिसिपल बोर्ड और जिला बोर्ड में मुसलमानों को 'उचित' प्रतिनिधित्व प्राप्त कराने की बात कही गई थी। इसके अनुसार मुसलमानों के लिये उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा में हिन्दुओं के समान प्रतिनिधित्व की माँग की गई थी यद्यपि हिन्दू, जनसंख्या में, मुसलमानों से प्रायः ६ गुना अधिक थे। सर सैयद का तर्क था कि मुसलमानों का भूतकालीन

७२. होम जुडीशियल, जनवरी १८९३, नं० १-२६।
७३. होम जुडीशियल, अगस्त १८९३, नं० १४४-१८६।
७४. होम जुडीशियल, अक्टूबर १८९३, नं० २७४-३०२, जनवरी १८९४, नं० १४५-१४७।

ऐतिहासिक योगदान और आधुनिक राजनीतिक महत्व किसी प्रकार हिन्दुओं से कम नहीं था।[७५]

इसी के साथ-साथ सर सैयद ने मुसलमानों के लिये साम्प्रदायिक प्रणाली के आधार पर पृथक् निर्वाचन पद्धति की स्थापना की माँग की। म्युनिसिपल कौंसिलों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में मुसलमानों के लिये अधिक प्रतिनिधित्व की माँग की। उसके लिए तीन सिद्धान्तों की व्याख्या की गई—(१) जिन नगरों में मुसलमान जनसंख्या १५% तक थी वहाँ कम से कम एक मुस्लिम सदस्य अवश्य होना चाहिए। (२) जिन नगरों में मुस्लिम जनसंख्या १५% से २५% तक थी वहाँ मुसलमान सदस्यों की संख्या यथासम्भव आधी होनी चाहिए। (३) जिन नगरों में मुसलमान जनसंख्या २५% से अधिक थी वहाँ आधे सदस्य अवश्य मुसलमान होने चाहिएं।

यह सब माँगे इसलिए औपचारिक रूप से प्रस्तुत नहीं की जा सकी क्योंकि इन्हें पहले इंगलैण्ड में कुछ अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारियों की सहमति के लिये भेजा गया था।[७६] १८९८ ई० के आरम्भ में सर सैयद की मृत्यु हो गई थी। इसलिए इसे प्रस्तुत नहीं किया जा सका था।

सर सैयद और सर्वइस्लामवाद :

१९वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में अंग्रेजी सरकार के मुसलमानों की निष्ठा पर सन्देह का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उनमें भारत के बाहर के इस्लामी राज्यों के प्रति सहानुभूति एवं भक्ति की भावना व्याप्त थी। विश्व के विभिन्न इस्लामी राज्यों के मुसलमानों में धार्मिक आधार पर भावनात्मक एकता पाई जाती थी। सर सैयद के लिये यह आवश्यक-सा था कि वे यह सिद्ध करें कि भारतीय मुसलमान केवल अंग्रेजों के प्रति ही भक्ति-भाव रखते थे तथा वे भारत के बाहर किसी भी मुसलमान राज्य पर अंग्रेजों द्वारा किये गये दुर्व्यवहार से प्रभावित नहीं होंगे। १८७१-७२ में उन्होंने डॉ० हन्टर की पुस्तक का कड़ा उत्तर दिया था। अपने इस दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट करने का सबसे पहला अवसर रूस-तुर्की युद्ध और बर्लिन सन्धि (१८७८ ई०) से उपलब्ध हुआ। इन घटनाओं में इंगलैण्ड ने तुर्की का समर्थन नहीं किया था। अंग्रेजी सरकार को भारतीय मुसलमानों की तुर्की के सुल्तान के प्रति भक्ति पर सन्देह था। मक्का के मुस्लिम अधिकारियों ने ईसाईयों के विरुद्ध मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये अपील प्रकाशित की थी। तुर्की के सुल्तान का अपने-आपको समस्त इस्लामी जगत् का नेता अथवा खलीफा घोषित करना इस सन्देह का आधार था। इस आधार को मुस्लिम जगत् ने साधारणतया स्वीकार किया था।

अंग्रेजी सरकार का यह सन्देह व्यर्थ नहीं था जैसाकि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् भी स्पष्ट हो गया था। लेकिन सर सैयद ने खिलाफत के विचार का समर्थन

---

७५. अलीगढ़ कॉलेज मैगजीन, दिसम्बर १८९६, पृ० ५०७-५१६।
७६. अलीगढ़ कॉलेज मैगजीन, फरवरी १८९७, पृ० ६०।

करने से इन्कार किया। सर सैयद के अनुसार तुर्की का सुल्तान किसी के लिये भी खलीफा नहीं था और भारत के मुसलमानों के लिये तो बिल्कुल ही नहीं था। उसके अनुसार शियाओं का खलीफा में ही विश्वास नहीं था और सुन्नियों के लिये उस समय कोई खलीफा नहीं था। सबसे विचित्र बात तो सर सैयद ने यह कही कि केवल एक अरब जाति का व्यक्ति ही खलीफा हो सकता था। तुर्की का सुल्तान हाशिम या फातिमा का उत्तराधिकारी नहीं था, न वह कुरेश कबीले का वंशज था। इसलिए वह खलीफा हो ही नहीं सकता था। सर सैयद के यह विचार विभिन्न इस्लामी लेखकों से भिन्न थे। उनका लक्ष्य मुसलमानों की अंग्रेजों के प्रति अटूट भक्ति सिद्ध करना था। उनका पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण इस बात से स्पष्ट होता था कि वह इंगलैण्ड को विश्व के मुसलमानों का दायां और तुर्की को बायां हाथ समझते थे।[७७]

१८७८ ई० के बर्लिन समझौते से इंगलैण्ड ने तुर्की के साईप्रस प्रदेश पर अधिकार तथा तुर्की के एशियाई प्रदेश पर एक प्रकार का संरक्षण स्थापित किया था। उस समय भारतीय मुसलमान नेताओं में सर सैयद ही ऐसे नेता थे जिन्होंने इंगलैण्ड के इस हस्तक्षेप को उचित ठहराया और इस बात पर खेद प्रगट किया कि इंगलैण्ड ने अधिक नियन्त्रण स्थापित नहीं किया। तुर्की पर संरक्षण उसकी विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा में सहायक सिद्ध होगा। साइप्रस पर अंग्रेजी नियन्त्रण आवश्यक था क्योंकि तुर्की के पास समुद्री बेड़ा नहीं था जो उस द्वीप की सुरक्षा कर सकता।[७८]

अंग्रेजों को यह सन्देह था कि १८७८ की बर्लिन सन्धि से तुर्की के टुकड़े कर दिए जाने से मुसलमान बहुत असन्तुष्ट होंगे। लार्ड नार्थ ब्रुक (भारत के भूतपूर्व अंग्रेजी गवर्नर जनरल) ने हाउस आफ लार्ड्स में इसी प्रकार का एक भाषण दिया था। सर सैयद ने विश्व के अन्य मुस्लिम राज्यों को उदाहरण देकर यह बताया कि वे सब अयोग्य थे। उन्होंने यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया था कि भारत में बहुत कम मुसलमान ऐसे होंगे जो अंग्रेजों की तुलना में किसी भी मुसलमान प्रशासक का समर्थन करेंगे।

अपनी इस नीति का औचित्य बताते हुए सर सैयद ने कहा था कि आधुनिक समय में धार्मिक परम्पराओं की अपेक्षा राजनीतिक हित अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। भारतीय मुसलमानों को अंग्रेजी साम्राज्य में सम्पत्ति तथा धार्मिक स्वतन्त्रता उपलब्ध थी इसीलिये वे अच्छे एवं आज्ञाकारी नागरिकों की भाँति जीवन व्यतीत करेंगे। अपनी नीति को तर्कसंगत सिद्ध करते हुए उन्होंने बताया था कि कोई भी कौम अपने सामाजिक और राजनीतिक हितों को एक दूसरी कौम के लिये जो दूर रहती हो त्याग नहीं कर सकती थी। एकता का सबसे बड़ा आधार किसी देश में लगातार साथ रहते रहना था और यह सम्बन्ध धार्मिक और जातीय हितों की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त किये

---

७७. गजट, १६ जून १८७७, पृ० ३८३।

७८. वही, १३ जुलाई, १८७८, पृ० ८०६।

हुए था।[७९] वे यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि भारत के मुसलमानों का तुर्की के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध था जैसा पृथ्वी के रहने वालों का चन्द्रमा के निवासियों के साथ था।

सर सैयद ने तुर्की के पुनर्जीवन की समस्त आशाएँ छोड़ दी थी क्योंकि सुल्तान के वादों पर विश्वास नहीं किया जा सकता था। उन्होंने तुर्की की ईसाईयों के प्रति व्यवहार की कटु आलोचना की थी। उनका यह विश्वास था कि ईसाईयों के प्रति नीति परिवर्तन के तुर्की के कोई भी आश्वासन पूरे नहीं होंगे, क्योंकि पुरानी धार्मिक सामाजिक तथा राजनीतिक परम्पराओं में बन्धे रहने के कारण तुर्की के शासकों का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण हो गया था। तुर्की में समस्त बुराई की जड़ उलेमाओं का गुट था जो अत्यन्त अज्ञानी था तथा राजनीति एवं प्रशासन के मूल सिद्धान्तों से अपरिचित था। सैयद अहमद का विश्वास था कि तुर्की के पुनर्जीवन की उस समय तक कोई आशा नहीं थी जबतक उलेमाओं के समूह को काले सागर में न डुबा दिया जाये।[८०]

सर सैयद अपने मन में यह जानते थे कि जो कुछ वे तुर्की के विषय में कह रहे थे वह सत्य नहीं था इसलिए अपनी अन्तिम कृति "आखरी मजामीन" में उन्होंने पाँच निबन्ध इसी विषय पर लिखे।[८१] उनका अभिप्राय था कि तुर्की के सुल्तान का भारतीय मुसलमानों से कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं था और उसे खलीफा अथवा धार्मिक नेता स्वीकार करना भी उचित नहीं था। उन्होंने यह आश्वासन दिलाने का प्रयत्न किया था कि सर्व इस्लामवाद का भारतीय मुसलमानों पर कोई प्रभाव नहीं था। सर सैयद का यह सिद्धान्त पूर्णतया राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये बनाया गया था।

तुर्की के प्रति ही नहीं बल्कि सर सैयद को अन्य मुस्लिम राज्यों के प्रति भी कोई सहानुभूति पैदा नहीं हुई यदि उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यवादी हितों का विरोध किया था। इगलैण्ड के द्वितीय अफगानिस्तान युद्ध (१८७८–१८८१) में सर सैयद पूरी तरह से अफगानिस्तान विरोधी था। उन्होंने अफगानिस्तान का रूस समर्थक दृष्टिकोण अत्यन्त हानिकारक बताया था। अलीगढ़ के नेताओं के अनुसार न तो अफगानिस्तान स्वतन्त्र था और न उसे स्वतन्त्र विदेश नीति का अधिकार था। उनकी दृष्टि से मुख्य तथ्य यह था कि क्या रूस को भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर नियन्त्रण स्थापित करने दिया जाये? वे अफगानिस्तान को असभ्य तथा अपने वादों को तोड़ने वाला समझते थे। अफगान जाति को अज्ञानी और अविश्वसनीय मानते थे। १८७७ ई० में ही जब अफगानिस्तान ने अंग्रेजी राजदूत का स्वागत करने में

---

७९. सर सैयद ने यह तर्क अंग्रेजो के प्रति भक्त होने के लिये प्रस्तुत किया था लेकिन हिन्दू मुसलमानो के आपसी सम्बन्धों की चर्चा करते समय वे इसे भूल गये थे।

८०. गजट, १० अगस्त, १८७८, पृ० ९२१।

८१. आखरी मजामीन, निबन्ध न० १४, १६, १८, १९, २६।

इन्कार कर दिया था तब सर सैयद के अनुसार अंग्रेजो को युद्ध घोषित कर देना चाहिए था। अलीगढ़ के मुसलमान नेता लार्ड लिटन से भी अधिक साम्राज्यवादी हितों के समर्थक थे। युद्ध आरम्भ हो जाने के बाद उन्होने विभिन्न सभाओ मे नीति के औचित्य के सम्बन्ध मे प्रस्ताव पास किये और अफगान युद्ध मे प्रारम्भिक सफलता पर अंग्रेजी सरकार को बधाई दी।[८२] बाद मे जब अंग्रेजी नीति को कुछ असफलताओ का सामना करना पडा तब वे अफगानिस्तान के अंग्रेजी साम्राज्य मे विलय को बात करने लगे।

इसी प्रकार सर सैयद ने अंग्रेजी सरकार द्वारा अलैक्जेण्ड्रिया पर १८८२ ई० मे बम वर्षा को उचित ठहराया और जब अंग्रेजी सरकार मिश्र के उपद्रवी नेता अरबी पाशा को बन्दी बना लेने मे सफल हो गई तब सर सैयद ने सरकार को उसकी सफलता पर बधाई दी।[८३]

हिन्दी उर्दू वाद-विवाद :

१९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इस महत्वपूर्ण विषय पर विवाद आरम्भ हुआ। अंग्रेजी प्रशासन ने विभिन्न प्रादेशिक तथा क्षेत्रीय भाषाओं को स्थानीय न्यायालयो की भाषा बनाने का प्रयास किया था। इसी आधार पर बंगला तथा उड़िया भाषाओं को बंगाल और उडीसा में न्यायालयों की सरकारी भाषा बना दिया गया था। इसी आधार पर १८६८ ई० मे बनारस तथा इलाहाबाद के कुछ नेताओं ने हिन्दी को उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के स्थानीय न्यायालयों की भाषा बनाने का प्रस्ताव रखा तथा सैयद अहमद खाँ से इस विषय पर अपने निष्पक्ष विचार व्यक्त करने को कहा। आरम्भ में हिन्दी समर्थकों तथा सैयद अहमद खाँ ने प्रदेश की मिली-जुली भाषा को क्रमशः हिन्दी और उर्दू कहा। सैयद अहमद ने कहा कि "हमारे न्यायालयों की भाषा वही मिली-जुली भाषा होनी चाहिए जिसे आप हिन्दी और मैं उर्दू कहूँगा। इस प्रश्न पर वाद-विवाद निरर्थक है कि यह देवनागरी, रोमन अथवा फारसी लिपि के माध्यम से लिखी जाये क्योंकि हमारे न्यायालयो की कार्यपद्धति स्वय यह बात स्पष्ट कर देगी कि कौनसी लिपि अधिक उचित है।" उन्होंने आगे कहा "यदि कोई व्यक्ति फारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि के स्थापित करने के लिये उचित तर्क प्रस्तुत करे और हमें यह आश्वासन दे कि बिना लेशमात्र कठिनाई के लिपि परिवर्तन से हमारा कार्य चल जायगा तब मुझे इस परिवर्तन को स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही होगी।[८४]

इस उत्तर मे सैयद अहमदखाँ ने अपनी उदारता बनाये रखने का असफल

---

८२. गजट, २ अगस्त, १८७९, पृ० ८५४-८५६।

८३. वही, १६ सितम्बर, १८८२, पृ० १०४१-१०४२।

८४. सैयद अहमद का पत्र शारदा प्रसाद सन्डेल के नाम: दि० ८ नवम्बर, १८६८: गजट, २७ नवम्बर, १८६८, पृ० ७५५।

प्रयत्न किया था। जब सैयद अहमद को पुन: यह बताया गया कि उर्दू में फ़ारसी के शब्द अधिक थे और यह हिन्दी से भिन्न थी तब उन्होंने इसकी परम्परा एवं पद्धति को सुरक्षित रखने की आवश्यकता प्रस्तुत की।[८५] हिन्दी के समर्थकों का सबसे बड़ा तर्क यह था कि उर्दू में सरकारी सूचनाओं को पढ़वाना अत्यन्त कठिन होता था।

इस समय हिन्दी समर्थक आन्दोलन किसी धार्मिक अथवा जातीय आधार पर नहीं था। बहुत से हिन्दू भी हिन्दी विरोधी थे। सर सैयद ने उर्दू के समर्थन में वकीलों की सुविधा का भी तर्क प्रस्तुत किया था लेकिन उन्हें अपने पक्ष की दुर्बलता का शीघ्र ही अनुभव हुआ क्योंकि जनता के लिए अधिक सुविधाजनक भाषा का सुगम लिपि द्वारा लिखे जाने का तर्क हिन्दी के समर्थकों के पक्ष में था। इसलिए उन्होंने वकीलों की सुविधा तथा उर्दू का अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित होने का तर्क प्रस्तुत किया। १८६९ ई० में लन्दन जाते समय सैयद अहमद खां ने अपने विभिन्न पत्रों में उर्दू के विस्तृत साम्राज्य का वर्णन किया था। बम्बई से उन्होंने लिखा कि लोग यहाँ उर्दू में बड़ी सरलता से बातें करते थे। उन्होंने कहा कि "जिस प्रकार यूरोप में अधिकांशतया फ्रांसीसी भाषा प्रचलित है उससे भी कहीं अधिक समस्त भारतवर्ष में उर्दू बोली जाती है।" उनके दिल में हिन्दी समर्थक आन्दोलन चुभा हुआ था इसलिए उन्होंने लिखा कि यह प्राचीन भाषा (हिन्दी) जिसे इलाहाबाद एसोसिएशन चाहती थी कहीं भी नहीं मिली।[८६] इसी प्रकार अदन से भी उन्होंने लिखा कि "अदन तक तो उर्दू भाषा का साम्राज्य स्थापित है।"[८७]

"हयात-ए-जावेद" के लेखक इस वाद-विवाद के आरम्भ को सर सैयद के साम्प्रदायिक होने के लिये उत्तरदायी ठहराते हैं। उनका विचार है कि इस घटना के पश्चात् सर सैयद केवल मुसलमानों के हितों के समर्थक बन गये।[८८] यह तर्क पूर्णतया अनुचित है। हिन्दी-उर्दू वाद-विवाद में आरम्भ में कोई साम्प्रदायिकता नहीं थी। एक तत्कालीन लेखक ने अलीगढ़ गजट में स्वयं यह बात कही थी कि हिन्दी के पक्षपाती किसी धार्मिक भावना से प्रेरित नहीं थे।[८९] इतना ही नहीं बहुत से हिन्दू स्वयं हिन्दी विरोधी थे।[९०] यह ठीक है कि सैयद अहमद इस वाद-विवाद से अत्यन्त व्याकुल हो गये थे तथा अपने बाद के पत्रों में वे बहुत क्षुब्ध दिखाई पड़ते थे और उन्होंने हिन्दी समर्थकों को शताब्दियों पुरानी एक मृतभाषा के पुनर्जीवित करने के लिये प्रयत्नशील बताया था लेकिन इस समय तक निष्पक्ष लोग यह समझते थे कि

---

८५. वहीं, पृ० ७५८।

८६. गजट, ३० अप्रैल, १८६९, पृ० २८३।

८७ वही, २५ जून, १८६९, पृ० ४१२; गजट ११ जून, १८६९, पृ० ३७५-३७६।

८८. अलताफ हुसैन हाली : हयात-ए-जावेद, खण्ड १, पृ० १२२।

८९. गजट, ५ मार्च, १८६९, पृ० १५७; गजट १४ मई, १८६९, पृ० ३१३-३१४।

९०. पं० शम्भुनाथ, सेक्रेटरी, लिटरेरी सोसाइटी, फतहपुर, का पत्र : गजट, ७ मई, १८६९ पृ० २९९।

हिन्दी समर्थक आन्दोलन हिन्दुओं, ब्राह्मणों अथवा बंगालियों के स्वार्थों पर निर्भर नहीं था।

सर सैयद मुसलमानों की बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने का प्रयत्न कर रहे थे। ऐसे समय में उन्हें हिन्दी समर्थक आन्दोलन ऐसा आन्दोलन दिखलायी पड़ा जिससे मुसलमानों को नौकरी मिलने की रही-सही सम्भावना भी जाती रहेगी। इसीलिये सर सैयद ने हिन्दी समर्थकों का भरसक विरोध किया। १८६६ ई० में लन्दन से मोहसिन उलमुल्क को लिखे गये एक पत्र में उन्होंने उर्दू भाषा को फारसी लिपि में लिखना मुसलमानों की निशानी (चिह्न) बताया।[६१] उन्होंने यह स्वीकार किया कि मुसलमान कदापि हिन्दी पर सहमत नहीं होंगे और यदि हिन्दू दृढ़ हुए और उन्होंने हिन्दी पर ज़िद की तो वे उर्दू पर सहमत नहीं होंगे और इसका परिणाम यह होगा कि हिन्दू और मुसलमान पृथक् हो जायेंगे।[६२] दूसरे शब्दों में सर सैयद अपनी शर्तों पर एकता चाहते थे। यदि हिन्दू किसी भी सुविधा अथवा लाभ की दृष्टि से किसी परिवर्तन की बात कहें तो उन पर पृथक् होने का दोष लगाया जा सकता था।

सर सैयद का यह कथन कि उर्दू भाषा मुसलमानों की निशानी थी सर्वथा गलत था। बंगाल प्रान्त में मुसलमानों ने कभी इसके पक्ष में आन्दोलन नहीं किया और न ही उर्दू भाषा मुसलमान अपने साथ लाये थे। न यह भाषा उनके धर्म से किसी प्रकार से सम्बन्धित थी। सर सैयद ने यह भी स्वीकार किया था कि उर्दू मुसलमानों की मातृभाषा नहीं थी।[६३] सर सैयद का उर्दू के प्रति समर्थन किसी साहित्यिक आधार पर भी नहीं था। उनका अभिप्राय केवल मुसलमानों के लिये नौकरी की अधिक सुविधाओं को उपलब्ध रखना था। आरम्भ में उन्होंने अलीगढ़ कॉलिज में अरबी और फारसी विभाग भी स्थापित किये थे तथा उन्होंने उर्दू अनुवाद के माध्यम से शिक्षा प्रसार पर बल दिया था लेकिन १८८० ई० तक उन्हें अपनी इस नीति से निराशा हो चली थी। उन्होंने १८८१ ई० में फारसी और १८८४ ई० में अरबी विभागों को बन्द कर दिया था। इन दोनों भाषाओं को अज्ञानता का सूचक बताया जाता था। उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा पर अधिक ध्यान देने के लिये कहा और उनसे अपनी मातृभाषा तक भूल जाने के लिये कहा।[६३ए] उन्होंने अनुवाद के माध्यम से पश्चिमी ज्ञान को भारत में फैलाने के कार्य को हास्यास्पद कहा। यह सर सैयद के विचारों में भारी परिवर्तन था। इसका कारण यह था कि समस्त राजकीय नौकरियों से पूर्वी भाषाएं समाप्त हो चली थी और सर सैयद का लक्ष्य सरकारी नौकरियों तक ही सीमित था।

---

६१. खतूत-ए-सर सैयद, पृ० ६६।

६२. वही, पृ० २६।

६३. गजट, १८ अप्रेल, १८६३, पृ० ३७७।

६३.ए गजट, २७ नवम्बर १८८०, पृ० १३३७।

हिन्दी उर्दू वाद-विवाद मुख्य मन्द गति से चलता रहा। १८८२ ई० हन्टर कमीशन के समय यह विवाद पुनः उठा। अलीगढ़ नेताओं ने कमीशन के समक्ष यह मत प्रस्तुत करने का निश्चय किया कि फारसी लिपि में उर्दू भाषा उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के लिये लाभदायक थी और देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी भाषा अत्यन्त हानिकारक होगी।[६४] सर सैयद ने कमीशन के समक्ष अपनी गवाही में भी यह बात कही कि उर्दू उत्तर-पश्चिमी प्रदेश की जनसाधारण की भाषा थी।[६५]

हिन्दी उर्दू वाद-विवाद १९०० ई० में बहुत उग्र रूप में भड़का। १८ अप्रैल १९०० ई० को उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की सरकार द्वारा प्रकाशित एक प्रस्ताव के अनुसार प्रत्येक सरकारी कर्मचारी के लिये उर्दू तथा हिन्दी का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया और दोनों भाषाओं को एक साथ सरकारी कामकाज की भाषा बना दिया गया। इस प्रान्त के मुसलमानों के लिये यह भारी आघात था और इसका उग्र रूप से विरोध भी किया गया। लखनऊ में एक उर्दू डिफेन्स एसोसियेशन बनाई गई और इसमें सरकारी प्रस्ताव को वापस लेने की भी मांग की गई। अलीगढ़ कॉलिज के विद्यार्थियों ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया। कॉलिज प्रबन्धक समिति के सचिव मोहसिनउलमुल्क ने उर्दू समर्थक संगठन की अध्यक्षता की थी। प्रान्त के गवर्नर ने अलीगढ़ कॉलिज की इस सरगर्मी को राजनीतिक समझा और अपनी अस्वीकृति स्पष्ट की। परोक्ष रूप से सरकारी सहयोग को समाप्त करने की धमकी दी गई। अलीगढ़ नेताओं के लिये सरकारी असन्तोष सबसे प्रभावशाली अस्त्र था। शीघ्र ही उर्दू समर्थक आन्दोलन समाप्त हो गया।

राजनीति का साम्प्रदायिक आधार :

आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास में सबसे दोषपूर्ण तथा विषैला तत्व साम्प्रदायिक राजनीति का आरम्भ रहा है। साम्प्रदायिक राजनीति से अभिप्राय है ऐसे सिद्धान्तों पर एक आन्दोलन को जन्म तथा प्रोत्साहन देना जिससे एक विशिष्ट सम्प्रदाय का हित होता हो और उन सिद्धान्तों के प्रयोग से दूसरे सम्प्रदायों को हानि होती हो। विभिन्न वर्ग अथवा सम्प्रदाय यदि अपने-अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिये सगठित होकर राष्ट्रीय आन्दोलन एवं राष्ट्रीय हितों की वृद्धि में सहायक हो जाये तो यह साम्प्रदायिकता नहीं है। इसके विपरीत साम्प्रदायिक आधारों पर सगठित होकर केवल साम्प्रदायिक हितों के लिये संघर्ष करना जिन्हें किसी न्यायसगत आधार पर उचित न ठहराया जा सके तब ऐसे आन्दोलन को अवश्य ही साम्प्रदायिक कहा जायेगा। इस प्रकार के साम्प्रदायिक हितों में राष्ट्रीय हितों से अलगाव एवं पृथक्ता निहित है। भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का जन्मदाता किसे कहा जाये

---

६४. वही, ५ अगस्त, १८८२, पृ० ८९७।

६५. सैयद अहमद की हन्टर कमीशन के समक्ष शहादत, गजट, विशेषांक, ५ अगस्त, १८८२, पृ० ३।

इस पर विद्वानों का मतभेद है। किसी भी ऐसे व्यक्ति को साम्प्रदायिकता तथा साम्प्रदायिक राजनीति का जन्मदाता कहा जायेगा जिसने प्रजातन्त्र मे राजनीतिक दलो का गठन धर्म के आधार पर बताया हो। सर सैयद अहमद खाँ भारतीय राजनीति मे प्रथम नेता थे जिन्होने अपनी राजनीति का आधार धर्म के आदेशो को बनाया। मेरठ में भाषण देते हुए सर सैयद ने कहा कि "इन प्रान्तो के हिन्दू हमारा साथ छोड़कर बंगालियो के साथ मिल गये है। तब हमे उस कौम के साथ मिल जाना चाहिए जिसके साथ हम मिल सकते हैं''''''' कोई मुसलमान इस बात से इन्कार नही कर सकता कि ईश्वर ने कहा है कि ईसाईयो के अतिरिक्त किसी धर्म के अनुयायी मुसलमानों के मित्र नही हो सकते। जिसने कुरान पढा है और जो इस पर यकीन रखता है वह जान सकता है कि हमारी कौम किसी अन्य कौम से मित्रता और हमदर्दी की आशा नही कर सकती''''हमे ईश्वर की आज्ञाओं के अनुसार ईसाईयों के प्रति निष्ठावान और मित्रतापूर्ण बने रहना चाहिए।"[६६] उन्होने भारतीय राजनीतिक दलो के गठन का आधार धर्म घोषित किया था और यह बताया था कि भारतीय ससद में दो दल हिन्दू एवं मुसलमानो के ही होंगे। इसीलिये उनका कहना था कि एक बहुमत अल्पमत नही बन सकता था। उन्होंने मुसलमानों के ऐतिहासिक महत्व का नारा लगाया था तथा भारत के किसी भी प्रजातन्त्र के संगठन में मुसलमानो को उनके राजनीतिक महत्त्व के अनुसार हिन्दुओं के समान स्थान का दावा प्रस्तुत किया था और इस प्रकार का प्रजातन्त्रीय परम्पराओं के विकास मे अवरोध उत्पन्न कर दिया था। शिक्षा के क्षेत्र मे भी मुसलमानो के पिछड़े होने की बात आँकडो के आधार पर नही कही गई थी बल्कि मुसलमानो और हिन्दुओं के विद्यार्थियो की सख्या समान रखने के लिये कही गई थी क्योकि हिन्दुओं मे बहुत कम लोग और मुसलमानो मे सब लोग (वे हमे यह यकीन दिलाना चाहते थे) विद्याप्रेमी थे।

मुसलमान एक कौम :

सर सैयद ने कौम शब्द की व्याख्या इतने अधिक भाषणों मे और इतने विभिन्न अवसरों पर और इतने भिन्न, कही-कही परस्पर विरोधी, अर्थों मे की थी कि उनके कुछ वाक्यों को लेकर उनके विचारों के विषय मे काफी भ्रान्ति प्रचलित है। बहुत से लेखक सर सैयद को इस आक्षेप से बचाना चाहते हैं कि उन्होने राष्ट्रीयता के अर्थ मे कौम का शब्द केवल मुसलमानो के लिये प्रयोग किया था। ये लेखक सर सैयद के उन भाषणो से कुछ अश उद्धृत कर देते हैं जिनमें कौम शब्द से व्यावसायिक, जातीय अथवा क्षेत्रीय समुदाय का बोध होता है।[६७]

अग्रेजी भाषा के शब्द 'नेशन' का उर्दू अनुवाद कौम होता है लेकिन इसके

६६. प्रेजेन्ट स्टेट ऑफ पॉलिटिक्स पृ० ४८-५०।
सफरनामा, पृ० ११२, २६२।

६७. एक आधुनिक लेखक ने केवल उनकी १८८४ ई० में दिये गये कुछ भाषणो के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। मुशीर-उल हक : मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मोडर्न इण्डिया, पृ० २९-३३।

साथ-साथ उर्दू भाषा मे कौम शब्द अन्य कई अर्थों में भी प्रयोग होता है। जैसे ईसाई कौम, पारसी कौम (धार्मिक समूह), जुलाहो की कौम (व्यवसायिक समुदाय), ब्राह्मणो की कौम (धार्मिक समूह), बंगालियो अथवा मराठो की कौम (क्षेत्रीय समुदाय)। सर सैयद ने इन सब ही अर्थों मे इस शब्द का प्रयोग किया था। उनके द्वारा इस शब्द का प्रयोग परिस्थिति के अनुकूल होता था। सर सैयद की कौम शब्द की व्याख्या दो चरणों मे हुई थी। पहला चरण इण्डियन नेशनल काग्रेस की स्थापना के पूर्व का था और दूसरा चरण १८८५ ई० के पश्चात् का था। पहले चरण मे सर सैयद ने केवल इस बात पर बल दिया था कि हिन्दुओ को मुसलमानो का समर्थन करना चाहिए क्योकि मुसलमान प्रगति तथा उन्नति में पीछे थे लेकिन इस समय मे भी सैयद अहमद निरन्तर इस बात पर बल देते रहे कि भारत मे दो कौमें है। मुसलमानो के एक कौम होने का एकमात्र आधार इस्लाम था। दूसरे चरण में जब उन्हे यह दिखाई पड़ा कि एक कौम (हिन्दुओ) ने अपने को सगठित कर लिया था और अपनी शिक्षा तथा अन्य प्रगति के आधार पर सरकारी नौकरियो मे उसे अधिक स्थान प्राप्त हो जायेगे तब उन्होने दोनों कौमो मे गृहयुद्ध और नर-सहार की बात कही थी।[१८]

सर सैयद के आरम्भिक समय मे कोई राजनीतिक प्रश्न ऐसा नही था जिसका कौमें के आधार पर निर्णय होने वाला हो। इस पर भी चूँकि सर सैयद के समक्ष मुसलमानो के पृथक् हितो की समस्या थी इसीलिए वे मुसलमानो की पृथक्ता पर बल देते थे और यह पृथक्ता उनकी दृष्टि मे धर्म के अतिरिक्त और कोई नही थी।

अपनी मुसलमान कौम मे धन कम उपलब्ध होने के कारण सर सैयद के समक्ष मुख्य समस्या मुसलमानो की प्रगति मे हिन्दुओ से सहयोग लेना थी। हिन्दुओ की प्रगति या आन्दोलन मे सहयोग देना मुसलमानो का, उनके अनुसार, कोई कर्तव्य नही था। सर सैयद ने जब कभी अपने कुछ निश्चित मुहावरो का प्रयोग किया वह उसी समय किया था जब या तो उन्हे हिन्दुओ से अलीगढ कॉलेज के लिये आर्थिक सहायता लेनी हो या दी हुई सहायता के लिये धन्यवाद देना हो। उदाहरणार्थ : १८७५ ई० में अलीगढ स्कूल की नीव स्थापना के समय उन्होने कहा

"सुन्नी तथा शिया का भेद केवल काल्पनिक है वे इसी इस्लाम धर्म में विश्वास रखते हैं जिस पर हम। यह दोनो धर्म देश और कौम के हिसाब से आपस मे भाई है। इसलिए यह दोनो अगर कौमी भलाई मे सम्मिलित हो तो कुछ अधिक आश्चर्यजनक नही है लेकिन इससे अधिक जो मुझे प्रसन्नता है वह यह है कि हमारे हिन्दू भाई भी हमारे इस कार्य मे हृदय से सहायक है। आशा है कि मुसलमान और हिन्दुओ मे जो आपस मे वतनी (एक देश के रहने वाले) भाई हैं दिन-प्रतिदिन मेल बढता जावेगा।"

---

१८. सर सैयद द्वारा मेरठ में दिया गया भाषण : १६ मार्च, १८८८। प्रेजेन्ट स्टेट, पृ० ३७।

ऐसे ही अवसरों पर वे यह कहते थे कि हमारे जीने और मरने के लिये भूमि एक ही है। एक ही गंगा का पानी पीते हैं और वे अपना प्रिय वाक्य कि "भारत में दो कौमे हैं हिन्दू और मुसलमान। यदि एक कौम इनमें से उन्नति करे और दूसरी कौम अवनति मे पड़ी रहे तो इसका (भारत का) सुन्दर मुखड़ा काना हो रहेगा। इस दुल्हन के सुन्दर चेहरे की खूबसूरती इसी मे है कि इसकी दोनों आँखें पूरी तरह स्वस्थ हों।"[९९] इसका अर्थ केवल यह ही था कि हिन्दू भारतीय दुल्हन को सुन्दर रखने के लिये मुसलमानों की सहायता करते रहें।

१८७५ ई० से पूर्व भी सर सैयद ने दोनों कौमों के पृथक् होने की बात कही थी। उन्होंने १८६८ ई० में लिखा था कि यदि भारत में एक संगठित कौम के बनाने की सब आशायें त्याग देनी पड़ें तो हमें एक पृथक् शासन और शिक्षा की योजना हिन्दुओं के लिये और दूसरी मुसलमानों के लिये बनानी चाहिए।[१००] लन्दन से अपने एक पत्र मे १८६९ ई० में उन्होंने निम्न घटना लिखी थी

"एक दिन मैं और हामिद और महमूद (उनके दोनों पुत्र) इंडिया आफिस में गये···· इतने में एक अंग्रेज युवक सम्भवतः कोई सिविल सर्विस पास किये हुए था आकर खड़ा हुआ। थोड़ी देर बाद उसने महमूद से पूछा कि तुम भी हिन्दुस्तानी हो। महमूद ने तुरन्त बिना सोचे हुए कहा, हाँ, किन्तु यह कहते ही उसको ऐसी शर्मिन्दगी हुई कि उसका रंग बदल गया और उसने कहा कि मैं हिन्दुस्तान की कौम का आदमी नहीं हूँ बल्कि विदेशी कौम का हिन्दुस्तान में आया हूँ।"[१०१]

१८७१ ई० में अलीगढ़ आन्दोलन आरम्भ करने के पश्चात् उन्होंने लिखा था—"आजकल सबसे अधिक इस बात की आवश्यकता है कि भारत के जिलों में विभिन्न स्थानों पर अनाथालय और स्कूल स्थापित किये जायें·······कौमी इज्जत और धार्मिक सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक कौम के लिये यह उचित है कि वह यथासम्भव अपनी-अपनी कौम के बच्चों को दूसरी कौम के नियन्त्रण में न जाने देवें इसलिए हिन्दू मुस्लिम अलग-अलग अनाथालय खोलें।"[१०२]

१८७३ ई० के पश्चात् उन्हें अलीगढ़ कॉलेज के लिये आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ी और मुसलमानों से धन कम मिला तब उन्होंने हिन्दुओं को प्रगतिशील कहकर उन पर यह उत्तरदायित्व डाला कि वे मुसलमानों की सहायता करें और उन्होंने ऐसे विभिन्न वाक्यों का प्रयोग किया जिनका अर्थ यह लगाया जाता है कि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता मे विश्वास करते थे और इसी काल में उनके ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनका स्पष्ट अर्थ मुस्लिम पृथक्तावाद होता था। १८७६ ई० में

९९. गजट, विशिष्ट अंक, २८ मई, १८७५, पृ० ७।
१००. वही, फरवरी १८६८ पृ० ८२।
१०१. सर सैयद का पत्र दि० १५ अक्टूबर, १८६९, गजट १९ नवम्बर, १८६९, पृ० ७४५। सर सैयद ने स्वयं अपनी स्वीकृति से यह प्रकाशित करवाया था।
१०२. गजट, २४ मार्च, १८७१, पृ० १७६।

भारत को विभिन्न धर्मों और कौमो का समूह बताया गया था। "इसमे रहने वालो के धार्मिक मतभेद इतने शक्तिशाली थे कि उनके सामने किसी अन्य शक्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण नही समझा जाता था········ जिस प्रकार रातदिन तथा काली और सफेदी का आपस मे मिल जाना कठिन था उससे कुछ अधिक यह कठिन था कि भारत के विभिन्न धर्म आपस में संगठित हो जावें।"[१०३]

१८८२ ई० मे उन्होंने कहा कि भारत की उन्नति दोनो कौमो (हिन्दुओ और मुसलमानो) की उन्नति पर निर्भर थी। भारत एक गाडी और इसकी दो कौमे इसके दो घोड़े के समान थे। यह गाडी किसी भाँति अपने लक्ष्य तक नही पहुँच सकती यदि दोनो मे से कोई घोडा सुस्त और पीछे हटने वाला हो। भारत की तुलना एक सिपाही से भी की गई और दोनो कौमो की दोनो पैरो से तुलना की गई लेकिन शीघ्र ही इस उपमा को छोड दिया गया क्योकि इसमे एक कौम दॉया और दूसरी बॉया पैर होगी और स्वाभाविक रूप से एक शक्तिशाली और दूसरा दुर्बल होगा। इसलिए सर सैयद पुन उस उदाहरण पर आ गये जिसके अनुसार भारत को एक सुन्दर दुल्हन और उसकी कौमो को दो खूबसूरत ऑखें बताया गया।[१०४] सर सैयद हिन्दुओ की प्रगति का उदाहरण देकर मुसलमानो को प्रगति के लिए उकसाना चाहते थे और अपनी कौम से कहते थे कि 'यह समय पीछे रह जाने का नही है। बहुत बातो मे पीछे रह गये। इस कार्य मे पीछे रह जाना विष खाने के समान है।'[१०५] "इस समय कौमियत का शब्द भारत के समस्त निवासियो पर लागू नही हो सकता तब भी कम से कम हिन्दुओ को, मुसलमान मुसलमानो को और पारसी पारसियों को अपनी-अपनी कौम का सदस्य समझते है। यह बात कि हिन्दुस्तान कभी एक कौम बन सकते है या नही और यदि बन सकते है तो किस प्रकार कठिनाई मे तय हो सकती है।"[१०६]

सर सैयद ने कौम शब्द की व्याख्या १८८३ ई० मे भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल मे चुनाव पद्धति का विरोध करते हुए की थी। "भारत अपने मे एक महाद्वीप है और इसमे विभिन्न कौमो और धर्मों के लोग रहते है और धार्मिक कट्टरता के कारण पडोसी भी एक-दूसरे से अलग रहे है········कौम और धर्म के एक होने से अंग्रेजी कौम एक कौम हो गयी है········वास्तव मे सामाजिक और राजनैतिक उद्देश्यों के लिए यह कहा जा सकता है कि इंगलैण्ड की कुल जनसख्या एक ही कौम है। निस्सन्देह भारत के सम्बन्ध मे ऐसा नही कहा जा सकता········उन देशो में जहा की

जनसंख्या केवल कौम और एक धर्म से मिलकर होती है यह नियम (चुनाव) निःसंदेह सबसे अच्छा है लेकिन 'मेरे लार्ड' एक ऐसे मुल्क मे जैसाकि हिन्दुस्तान है जहाँ कि जाति के मतभेद अबतक विद्यमान है और जहां विभिन्न कौमे घुलमिल नही सकी है और जहाँ धार्मिक मत-भेद बढ़े हुए हैं.........जबतक कौम और धर्म के मत-भेद भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अभिन्न अंग बने रहेंगे.........उस समय तक चुनाव का विशुद्ध नियम निश्चिन्तता के संग प्रचलित नही किया जा सकता। बडी कौम छोटी कौम के उद्देश्यो पर प्रभुत्व स्थापित कर लेगी।"१०७

जनवरी १८८४ ई० के अमृतसर में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था : 'नि सन्देह मेरे दिल में एक उत्साह और एक आकांक्षा है कि मेरी कौम जो अपमान मे पड़ी जाती है सम्पत्ति से वंचित होती जाती है वैभव और गौरव को जो बाप-दादा की अर्जित सम्पत्ति थी खोती जाती है उसको पुन प्राप्त करे। जहां तक मुझसे हो सकता है मैं उसमे प्रयत्न करता हूँ'१०८ एक अन्य अवसर पर बरेली मे भाषण देते हुए उन्होंने कहा था "मैं अपनी समस्त कौम का जिस पर इस्लाम का प्रभाव हो सकता है चाहे वह सुन्नी हो या शिया, हृदय से सेवक हूँ"१०९ १८८४ ई० मे सर सैयद ने पंजाब के विभिन्न जिलो का दौरा किया क्योंकि वे अलीगढ कॉलेज के लिये चन्दा एकत्रित करना चाहते थे। अपने सबसे पहले भाषण मे उन्होंने कौम शब्द की व्याख्या करते हुए कहा :

"कौम का शब्द ऐसा है जिसके अर्थ पर कुछ ध्यान देना आवश्यक है बहुत लम्बे समय से.........कौमो की गिनती किसी महापुरुष के वंशज होने या किसी देश का निवासी होने से होती थी। हजरत मोहम्मद ने.........उस कौमी भेद को जो केवल सांसारिक स्थिति के कारण था मिटा दिया और एक आध्यात्मिक कौमी सम्बन्ध स्थापित किया.........समस्त कौमी सम्बन्ध इस आध्यात्मिक सम्बन्ध के समक्ष नष्ट हो गये और एक नया आध्यात्मिक बल्कि खुदाई कौमी सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस्लाम किसी से नही पूछता कि वह तुर्क है या ताजीक। वह अफ्रीका का रहने वाला है या अरब का, वह चीन का निवासी है या माचीन का। वह पंजाब मे पैदा हुआ या हिन्दुस्तान मे......... जिसने कलमा-ए-तौहीद को मजबूती से पकडा वह एक कौम हो गया" आगे उन्होंने कहा "इन रूहानी (धार्मिक) भाइयो (अर्थात् मुसलमानो) के अतिरिक्त और भी हमारे वतनी (देशवासी) भाई है।११०

एक दिन बाद जलन्धर मे उन्होने कहा - "मैं अपनी कौम के उन महान् भावो का तथा अपनी गैर कौम के वतनो भाईयो का जिन्होने इसमें (अलीगढ कॉलेज मे)

---

१०७. लेक्चरो का मजमूआ, पृ० ३२८-३२९।
१०८. सफरनामा, पृ० ७९।
१०९. लेक्चरो का मजमूआ, पृ० १४३।
११०. सफरनामा, पृ० ८-९, ११।

महायता की हृदय से आभारी हैं।"[१११]

दो दिन पश्चात् अमृतसर में बोलते हुए उन्होंने कहा "हमारी कौम के लड़के इस बात को याद रखें कि हमारी मुक्ति का साधन इस्लाम का मार्ग है इसको हम सुरक्षित रखें.......हिन्दू हमारे हमवतन भाई हो गये हैं.......हिन्दुस्तान में दोनों कौमें बराबर उन्नति करें। हिन्दू हो या मुसलमान अथवा भारत की कोई कौम हो देश की उन्नति के लिये सबको एक होना चाहिए।"[११२] एक अन्य भाषण में उन्होंने कहा "अलीगढ़ कॉलेज निस्सन्देह एक साधन कौमी उन्नति का है यहाँ पर कौम से मेरा अभिप्राय मुसलमानों से नहीं बल्कि हिन्दू और मुसलमान दोनों से है।"[११३] इससे स्पष्ट है कि जहाँ एक कौम से उनका अभिप्राय मुसलमानों के अतिरिक्त कुछ और होना था वे स्पष्ट कह देते थे।

गुरदासपुर में भाषण देते हुए उन्होंने कहा "हिन्दू और मुसलमान एक धार्मिक शब्द है वरना हिन्दू और मुसलमान और ईसाई भी जो इस मुल्क में रहते हैं इस दृष्टि से सब एक ही कौम है।"[११४]

लाहौर में आर्य समाज के सदस्यों के समक्ष बातें करते हुए सर सैयद ने कहा "मेरे विचार में हिन्दू किसी धर्म का नाम नहीं है बल्कि हर एक व्यक्ति हिन्दुस्तान का रहने वाला अपने आपको हिन्दू कहता है इसलिए मुझे खेद है कि आप मुझे यद्यपि मैं हिन्दुस्तान का रहने वाला हूँ हिन्दू नहीं समझते.......(आगे कहा).......भारत की उन्नति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हिन्दू और इस्लाम धर्म के मानने वाले आपस में मिलकर कार्य करें।"[११५] १८७३ ई० में पटना में उन्होंने कहा था

"इस्लाम का सम्मान मुसलमानों की दशा से आँका जाता है। आप मुसलमान रईस जो भगवान की कृपा से इस शहर में उपस्थित हैं और जिनमें से बहुत से यहाँ हैं उनकी योग्यता और सम्पन्नता से इस्लाम के सम्मान का अनुमान होता है इसलिए यदि सब निर्धन, अपमानित और भीख माँगने वाले हो जायेंगे तो इस्लाम की क्या इज्जत शेष रह जायगी........"[११६]

१८८३ में भाषण करते हुए पटना में ही उन्होंने कहा :

"यदि वह कौम जो इस संसार में मुसलमान के नाम से प्रसिद्ध है, अपमानित,

---

१११. वही, पृ० ५२-५३।

११२. वही पृ० ६४-६५।

११३. वही, पृ० ७६। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि अलीगढ़ कालेज से प्रथम पाँच वर्षों में कुल १२ विद्यार्थी बी. ए. परीक्षा पास किये जिनमें केवल दो हिन्दू थे। यह अनुपात कालान्तर में घटता गया।

११४. वही, पृ० ६४।

११५. वही, पृ० १३६-४०। सर सैयद एक ही भाषण में अविरोध नहीं रह सके।

११६. लेक्चरों का मजमुआ, पृ० २०।

निर्धन व कंगाल हो जावे तो इस्लाम भी अपमानित हो जावेगा। इसलिए हमारा प्रयत्न सांसारिक प्रगति और सम्मान में इस्लामी सम्मान तथा वैभव की नियत से होना चाहिए जिसको मैं इस्लाम से वास्तविक प्रेम व सच्ची भलाई का कार्य कहता हूँ—(अलीगढ़ कॉलेज के लिये सहायता मांगने में बड़े प्रभावशाली ढंग से भाषण देते हुए उन्होंने कहा)………आठ-दस वर्षों का समय प्रयत्न करते हुए व्यतीत हो गया। कौम के ध्यान देने के अभाव में वह अबतक पूरा नहीं हुआ उसकी खुदी हुई नींवें कौम का मुंह ताकती हैं कि कब हमारा पेट भरेगा………इसके विद्यार्थी छप्पर में और वृक्षों के साये में नमाज पढ़ते हैं और पूछते हैं कि हमारी कौम जिन्दा है या खुदा के यहाँ चल बसी।"११७

सर सैयद ने अपने १८८४ ई० के पंजाब के विभिन्न भाषणों में जिस सामूहिक जीवन पर बल दिया था वह सामाजिक था और इस क्षेत्र में भी उन्होंने धर्म को अलग रखने पर हमेशा जोर दिया था। यदि सर सैयद से उन क्षेत्रों की व्याख्या करने को कहा जाता कि वह सामाजिक क्षेत्र कौनसा था जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे का सहयोग कर सकते जबकि धर्म और राजनीति अलग हो और देश की नीति निर्माण में लोगों का हाथ न हो तो उनका उत्तर केवल इतना ही था कि हिन्दू अपनी आर्थिक सम्पन्नता के कारण मुसलमानों की शिक्षा प्रसार में धन देते जायें। १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के बन जाने से उन्हें यह शंका हुई कि भविष्य में यदि प्रतिनिधित्व प्रशासन प्रणाली तथा प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर कुछ सुविधायें भारतवासियों को प्राप्त हुई तो मुसलमानों की प्रगति का वह स्वप्न पूरा नहीं हो सकेगा जिसकी कल्पना उनके मस्तिष्क में थी। १८८६ ई० के पश्चात् इस बात के परखने का अवसर उपलब्ध हुआ कि क्या सर सैयद मुसलमानों और हिन्दुओं में केवल धार्मिक भेद ही समझते थे? क्या राजनीतिक क्षेत्र में सर सैयद अपने उन भाषणों एवं लेखों को क्रियान्वित करना चाहते थे जिनकी व्याख्या उन्होंने १८७८—१८८४ ई० के मध्य अलीगढ़ कॉलेज के लिये चन्दा एकत्र करते समय की थी? क्या सर सैयद कौम का अर्थ किसी धार्मिक समुदाय से लगाते थे अथवा इस कौमियत के आधार पर वे विशिष्ट राजनीतिक अधिकार चाहते थे?

उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर उनके किसी एक या दो भाषणों से देना पर्याप्त नहीं होगा। सर सैयद अत्यन्त बुद्धिमान तथा दूरदर्शी नेता थे जो यह समझते थे कि मुसलमानों की प्रगति किस प्रकार हो सकती थी। हिन्दुओं से सहयोग लेकर (यदि हो सके) अथवा मुसलमानों की पृथकता की दुहाई देकर (यदि आवश्यक हो) वे मुसलमानों को पुनः प्रगति के मार्ग पर डालना चाहते थे और उन्हें एक दल के रूप में संगठित कर देना चाहते थे। सर सैयद के १८८७ एवं १८८८ में लखनऊ और मेरठ में दिये गये भाषण (जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है) इस बात को

---

११७. वही, पृ० १३७-१३८।

स्पष्ट करते हैं कि वे मुसलमानों और हिन्दुओं में किस प्रकार का सहयोग चाहते थे। १८८७ ई० में उन्होने मुसलमानों के पिछड़े होने के सम्बन्ध मे लिखा था।

"जितना अनुभव और जितना विचार किया जाता है सबका निर्णय यह निकलता है कि अब भारत के मुसलमानो को भारत की अन्य कौमो से समानता कर पाना असम्भव-सा लगता है। बगाली तो अब इतना आगे बढ गये हैं कि यदि बंगाल, हिन्दुस्तान और पंजाब के मुसलमान पर लगाकर भी उड़े तो उनको पकड नही सकते। भारत की हिन्दू कौमो ने भी उन्नति करके मैदान में मुसलमानों को बहुत पीछे छोड दिया है यदि मुसलमान दौड़कर भी चलें तो भी उनको पकड नही सकते।"[११८] वे सदा इस बात से चिन्तित रहते थे कि भारत मे एक कौम ने (अर्थात् हिन्दुओ) अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लिया था और जो समय आने वाला था उसको भलिभाँति समझकर अपने-आप को उसके योग्य बना लिया था मगर जो कौम पीछे पड़ी रह गई थी "वह हमारी कौम है जो मुसलमान कहलाती है जिसको इस्लाम ने एक कौम बना दिया है।"[११९]

१८८५ ई० के पश्चात् प्रत्येक स्थान पर दिन-प्रतिदिन हिन्दू मुसलमानो मे फूट, शत्रुता और झगडा बढता जा रहा था जिसका परिणाम दोनो के लिये अत्यन्त खराब, अधिकारियो के लिये कष्टदायक था लेकिन अलीगढ के लिये यह ही पर्याप्त सन्तुष्टि का कारण था कि यह घटनाये "इण्डियन नेशनल कांग्रेस वालो की आशाओं के लिये निराशा का कारण थी।"[१२०] सर सैयद इस बात का भी अनुभव करते थे कि भारत मे मुसलमानो को नेशनलिटी स्थापित करने की सबसे अधिक आवश्यकता थी।"[१२१] उन्हें भारत के मुसलमानो की एक पोशाक की आवश्यकता अनुभव होती थी। १८९४ ई० मे एजुकेशनल कान्फरेन्स के वार्षिक अधिवेशन में सर सैयद ने मुसलमानो को एकता के सूत्र मे बाँधने की आवश्यकता पर बल दिया था। यदि ऐसा न हो सका तो "न कौम को कौम बना सकेंगे और न उनमे इन्सानियत और कौमियत पैदा कर सकेंगे·······। हमको मुसलमान होने के कारण कौम को कौम बनाने के लिये धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है क्योकि मुसलमानो मे इस्लाम धर्म के अनुसार कौम शब्द का प्रयोग जातीय एकता के आधार पर नही बोला जाता बल्कि जिसने कलमा पढा और इस्लाम स्वीकार किया वह जाति के हिसाब मे कोई भी हो हमारा भाई और हमारी कौम में सम्मिलित है। इस्लाम के अनुसार कौमी प्रेम, भाईचारा तथा एकता केवल इस्लाम पर निर्भर है।"[१२२]

---

११८. गजट, ४ अक्तूबर, १८८७, पृ० ११२७।
११९. वही, १२ मई, १८९४, पृ० ४९३।
१२०. वही, १० अगस्त, १८९०, पृ० ९४८।
१२१. वही, १० नवम्बर, १८९१, पृ० १२४२।
१२२. मेम्बर सैयद अहमद खां, २७ दिसम्बर, १८९४, पृ० ३-६।

सर सैयद के इन विचारो एवं भाषणों के समक्ष यह स्वीकार नही किया जा सकता है कि सर सैयद ने भारतीय मुसलमानों के लिये "कौम" शब्द का प्रयोग ही नही किया था बल्कि इस शब्द का प्रयोग समस्त भारतीय जनता के लिये किया गया था।[१२३]

सर सैयद अहमद अपने जीवन के उत्तरार्ध में अत्यन्त प्रभावशाली नेता थे। उन्होंने मुसलमानों की धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी दशा को सुधारने के लिये विभिन्न प्रयत्न किये। उनकी सबसे बडी कृति अलीगढ मोहम्डन कॉलिज थी जो बाद मे चलकर विश्वविद्यालय बन गयी। सर सैयद ने अलीगढ़ कॉलिज को भारतीय मुसलमानों की जागृति का केन्द्र बनाया। शैक्षणिक दृष्टि से वे मुसलमानो में पश्चिमी शिक्षा के प्रति जागरूकता अवश्य पैदा कर सके। उनकी सबसे बडी सफलता मुसलमानो में राजनीतिक शक्ति पैदा करना तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्हे एक पृथक तत्व बना देना केवल सर सैयद का ही कार्य था। मुसलमानो के विशिष्ट हितों एवं पृथक निर्वाचन तथा आरक्षित स्थानों की बात उन्होंने ही सबसे पहले प्रस्तुत की थी। अंग्रेजो के कृपापात्र बनाने का लक्ष्य भी उन्होंने ही उनके समक्ष रखा था। यह नीति ही मुस्लिम लीग तथा अन्य साम्प्रदायिक नेताओं को हठी एवं राष्ट्रीय तत्वों के प्रति उदासीन बनाने में सहायक हुई। आधुनिक भारत मे मुसलमानों के राजनीतिक चिन्तन मे विभिन्न धाराएं रही हैं, लेकिन उनमें सबसे प्रभावशाली वह शाखा ही रही है जिसका सूत्रपात सर सैयद अहमदखाँ ने किया था। सर सैयद के मुस्लिम पृथकतावादी विचार ही भारत विभाजन के लिये उत्तरदायी सिद्ध हुए।

सर सैयद का हिन्दुओं के प्रति दृष्टिकोण :

सर सैयद १८५७ ई० की क्रान्ति के कारणों का वर्णन करते हुए कहते थे कि ईसाईयों के धार्मिक प्रचार एवं प्रोपेगेन्डा का बुरा प्रभाव मुसलमानो पर अधिक पड़ा। "इसका कारण मैं यह मानता हूँ कि हिन्दू धर्म मे सिद्धान्तो के अध्ययन की अपेक्षा पुराने प्रचलित रीति-रिवाजों का पालन अधिक है। हिन्दू किन्ही धर्मसूत्रों तथा नियमों को अथवा अन्त:करण और हृदय से अभ्यर्थना को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका धर्म इन चीजों को स्वीकार नही करता है। इसलिए वे (अर्थात् हिन्दू) दार्शनिक सिद्धान्तो के विषय मे अत्यधिक निरुत्साही हैं। वे अपनी पुरानी परम्पराओं के कठोर पालन तथा अपने खाने-पीने के साधनो के अतिरिक्त किसी भी वस्तु पर ध्यान

१२३. आबिद हुसैन : दी डेस्टिनी ऑफ दी इण्डियन मुस्लिमस पृ० २६, मुशीर उलहक : मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मोडर्न इण्डिया, पृ० ३२। दोनों लेखकों का यह कथन निराधार है जैसाकि विभिन्न स्थानो पर सर सैयद के भाषणों से ही बारम्बार उद्धरित करके स्पष्ट किया गया है।

नहीं देते हैं। ऐसी रस्मों और परम्पराओं की जिन्हें वे आवश्यक समझते हैं दूसरे व्यक्तियों द्वारा अवहेलना एवं तिरस्कार से उन्हें कोई परेशानी अथवा कष्ट भी नहीं होता है। इसके विपरीत मुसलमान अपने धर्म के सिद्धान्तों का पालन मोक्ष के लिये आवश्यक और उनका तिरस्कार नरकवास के लिये उत्तरदायी समझते हैं और इसलिए उनसे भलीभाँति परिचित होते हैं। वे अपने धार्मिक सिद्धान्तों को ईश्वर का आदेश मानते हैं।"[१२४]

इसी समय उन्होंने यह लिखा था कि एक भारतीय व्यक्ति के लिये नौकरी सबसे अच्छा व्यवसाय था। उनके अनुसार यह कठिनाई (नौकरी प्राप्त करने की) मुसलमानों के लिये सबसे अधिक कष्टदायक सिद्ध हुई। क्योंकि हिन्दू जो इस देश के आदिवासी हैं पहले कभी नौकरी नहीं करते थे बल्कि इसके विपरीत अपने पूर्वजों के काम धन्धों में लगे रहते थे।[१२५] उन्होंने पंजाब में सिक्खों के प्रशासन को मुसलमानों पर अत्याचारी घोषित किया था और अंग्रेजी प्रशासन को उदार बताया।[१२६] १८७२ई० में अलीगढ़ नेताओं ने यह बात कही थी कि दोनों कौमों में बहुत अधिक अन्तर है। मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक मजबूत हैं।[१२७]

सर सैयद ने १८८४ ई० में जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों के पड़ोसी एवं मिलकर कार्य करने की बात कही थी, १८८७ ई० में उन्होंने कहा था कि "कांग्रेस में हिन्दू बंगालियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे जिससे मुसलमानों के हिन्दू धर्म विरोधी धार्मिक कार्यों को दबा सकें।[१२८] यह समस्या खड़ी करके सर सैयद स्वयं ही इसका आवेश पूर्ण उत्तर भी देते थे। "यह कार्य शक्ति के आधार पर नहीं हो सकता। जितनी अधिक शत्रुता और वैमनस्य बढ़ेगा उतना ही अधिक उनकी (हिन्दुओं) हानि होगी।" उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया था कि जैसे ही हिन्दुओं ने गोवध निरोध आन्दोलन आरम्भ किया यद्यपि यह शक्ति के आधार पर नहीं था, लेकिन गोवध और बढ़ गया। सर सैयद ने चेतावनी देते हुए कहा कि हिन्दू कांग्रेस में सम्मिलित होने पर पछताएंगे इसलिए "उन्हें हमारे साथ मैत्री स्थापित करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।"[१२९] यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब मुसल-

---

१२४. असबाब बगावत-ए-हिन्द, पृ० २३।

१२५. वही, पृ० ३५।

१२६. वही, पृ० ७४। इसी प्रकार के भाव उन्होंने जनवरी १८८४ ई० में भाषण में व्यक्त किये। सफरनामा, पृ० १७३।

१२७. गजट, २३ फरवरी १८७२, पृ० ११६।

१२८. सर सैयद अहमद : प्रेसीडेन्ट स्पीच, पृ० ३५। यह सर सैयद का भ्रम था क्योंकि

मानों को धन तथा सहायता की आवश्यकता थी तब सर सैयद का कहना था कि हिन्दुओं को मदद करनी चाहिए वरना भारतीय दुल्हन कानी भेंगी हो जाएगी। जब हिन्दुओं को अपनी धर्म विरोधी परम्पराओं को समाप्त करवाना था तब भी उन्हें मुसलमानों की मैत्री का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। भारत की प्रगति के लिये प्रतियोगिता परीक्षाओं तथा राजनीतिक सुधारों की माँग करना मुसलमानों के काल्पनिक हितों के विरुद्ध था। इसलिए प्रत्येक स्थिति में एक पक्षीय कर्त्तव्य लागू होते थे। जिस समय सर सैयद को यह आभास हुआ कि कांग्रेस आन्दोलन सम्भवतः प्रभावशाली होगा और प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर भारतीयों को सत्ता में कुछ भाग प्राप्त हो जाएगा उस समय सर सैयद ने अपने मेरठ और लखनऊ के भाषणों में कांग्रेस आन्दोलन की बिना शस्त्रों के गृह युद्ध से तुलना की।[१३०] उन्होंने कहा "हम भी गृह युद्ध चाहते हैं, लेकिन शस्त्रों के साथ। यदि अंग्रेजी सरकार आन्तरिक प्रशासन भारतीयों के हाथ में हस्तान्तरित करना चाहती है तो हम एक याचिका प्रस्तुत करेंगे कि ऐसा करने से पूर्व एक प्रतियोगिता परीक्षा हो·······जिसमें हमें अपने पूर्वजों की कलम अर्थात् तलवार जो वास्तव में सत्ता के आदेश लिखने के लिये होती है के प्रयोग करने की अनुमति हो। जो कोई उसमें प्रथम पास होगा देश पर शासन करेगा।"

"यदि अंग्रेज और अंग्रेजी सेना भारत छोड़कर चले जायें तब देश में एक दिन भी शान्ति नहीं रह सकती। भारत का शासक कौन होगा? क्या यह सम्भव है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों कौमें समान शक्तिशाली रह सकेंगी? कदापि नहीं। यह आवश्यक है कि उनमें से एक पक्ष दूसरे पर विजय प्राप्त करे और उसे नीचे ढकेल दे। मुसलमान यद्यपि संख्या और अंग्रेजी शिक्षा में कम है, लेकिन वे अपनी स्थिति सुरक्षित रख सकेंगे। मान लीजिये ऐसा नहीं हो तब उनके मुसलमान भाई, पठान पहाड़ी दर्रों से टिड्डी दलों की भाँति आयेंगे और उत्तर से बंगाल के अन्त तक खून की नदियाँ बहा देंगे। भविष्य में सत्ता ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करेगी।"[१३१] उन्होंने आगे कहा "हमारे बंगाली मित्रों की प्रशासन में भाग लेने की इच्छा अनुचित है क्योंकि उन्होंने कभी किसी क्षेत्र पर अधिकार नहीं किया है।"[१३२]

---

१३०. प्रेजेन्ट स्टेट, पृ० २७-२८।
१३१. वही, पृ० ३७-३८।
१३२ वही, पृ० ४७।

३

अलीगढ़ विचार-पद्धति का विस्तार

(१८९८–१९०६)

सर सैयद की मृत्यु के पश्चात् अलीगढ़ आन्दोलन का संचालन मोहसिन-उल-मुल्क द्वारा किया गया था। मोहसिन-उल-मुल्क यह जानते थे कि एजुकेशनल कॉन्फ्रेन्स अलीगढ़ विचारधारा को फैलाने का एक साधन थी। इसलिए उन्होंने अलीगढ़ आन्दोलन को समस्त भारत मे फैलाने के लिये विभिन्न स्थानों के दौरे किये। यह कार्य वे १८९६ ई० से १९०६ ई० तक करते रहे। १८९९ ई० में पूना, बम्बई और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के विभिन्न स्थानों का दौरा किया गया।[1] १८९८ ई० मे उन्होंने अलीगढ़ कॉलेज के पढ़े हुए विद्यार्थियों, कौम के अन्य शुभचिन्तकों तथा समाचार-पत्रों के मालिकों एवं सम्पादकों से अलीगढ़ आन्दोलन को व्यापक बनाने में सहयोग देने के लिये अनुरोध किया।[2] १९०१ ई० मे कॉन्फ्रेन्स का अधिवेशन पहले लखनऊ में होना निश्चित हुआ था, लेकिन मद्रास मे निमन्त्रण मिलने के पश्चात् वहाँ पर अधिवेशन किया गया।[3] मद्रास में मोहसिन-उल-मुल्क ने यह आश्वासन दिया था कि वे विभिन्न स्थानों पर इसलिए ही नही जाते थे कि अलीगढ़ कॉलेज के लिये धन एकत्रित करें। उनका सर्वप्रथम लक्ष्य वहाँ की स्थानीय आवश्यकताओं पर ध्यान देना होना था।[4] १९०३ ई० में बम्बई में भाषण देते हुए उन्होंने कहा "बाहर वालों को बहुधा यह भ्रान्ति होती है कि जो कुछ प्रयत्न किया जाता है वह केवल अलीगढ़ कॉलेज को सहायता देने के लिये। जबतक यह विचार बना रहेगा सफलता कदापि सम्भव नहीं हो सकती।"[5] उन्होंने अलीगढ़ कॉलेज को भारत के मुसलमानों की केन्द्रीय संस्था बनाने का प्रयत्न किया।

---

१. रिपोर्ट कॉन्फ्रेन्स, १८९६ अधिवेशन, पृ० ५७-६१।

२. रिपोर्ट कॉन्फ्रेन्स, १८९८ अधिवेशन, पृ० ९-२४।

३. रिपोर्ट कॉन्फ्रेन्स, १९०१ अधिवेशन, पृ० ६-७।

४. वही, पृ० २८-२९।

५. रिपोर्ट, १९०३ अधिवेशन, पृ० ६२।

कॉन्फ्रेन्स के माध्यम से समस्त भारत के मुसलमानों को संगठित करने का प्रयत्न किया गया, लेकिन केन्द्र अलीगढ में ही स्थापित रखा गया था। सर सैयद के समय मे यह संस्था केवल उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तथा पंजाब तक ही सीमित थी। मोहसिन ने इस सस्था का प्रभाव समस्त भारत में फैलाया। मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, करांची, ढाका आदि स्थानो पर अधिवेशन किये गये और इसे व्यावहारिक रूप में अखिल भारतीय बना दिया गया।

मोहसिन-उल-मुल्क और मुसलमान कौम :

मोहसिन-उल-मुल्क १८६३ ई० में हैदराबाद राज्य की सेवा से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् अलीगढ़ में रहने लगे थे। उनके अलीगढ़ आने के पूर्व सर सैयद के पुत्र जस्टिस सैयद महमूद को मुसलमानो के आन्दोलन का नेता समझा जाता था, लेकिन मोहसिन उल-मुल्क के नेतृत्व के समक्ष सैयद महमूद नहीं टिक सके। मोहसिन-उल-मुल्क आयु मे सर सैयद से २० वर्ष छोटे थे और वे मुसलमानो की उन्नति के विषय मे अत्यन्त आशावान थे। सर सैयद के भाषणों मे १८६३ ई० के पश्चात् निराशा दिखाई पड़ने लगी थी, लेकिन मोहसिन ने इस वातावरण को ही बदल दिया। मोहसिन अपनी कौम को उत्तेजित करने में सर सैयद से भिन्न साधन अपनाते थे। एक बार तो सर सैयद के निराशाजनक भाषण की तीव्र आलोचना करते हुए उन्होंने कहा :

"कौम की दशा यह है कि उसको एक बार कहना पर्याप्त नहीं है····कौम के सुधारकों एवं शुभचिन्तकों का यह काम नही है कि एक बार अनुरोध करें····किन्तु उनको कौम को जगाने के लिये रातदिन व्यस्त रहना चाहिए। मुझे आपत्ति यह है कि कान्फ्रेन्स इन चार दिनो के अतिरिक्त वर्ष भर कुछ नहीं करती है·······चार दिनों की चांदनी फिर अन्धेरी रात है।" सर सैयद को सम्बोधित करते हुए कहा "आपका बार-बार कौम को मुर्दा कहना उचित नही है·······वह विशाल कारखाना (कॉलेज) जो अलीगढ मे स्थापित है····यदि कौम ने सहायता नहीं की तो क्या यह कारखाना आपकी दुआ (प्रार्थना) से स्थापित है····जब हमारा सुधारक स्वय निराश है तो हमारी क्या दशा होगी। हम किस प्रकार एक मुर्दा कौम को जीवित कर सकेंगे····कौम को मुर्दा कहना उचित नही है।"[६] सर सैयद अपने आन्दोलन के परिणामो को आशाजनक नही समझते थे। मोहसिन का कहना था कि "मुझे इस पर आश्चर्य नहीं है कि हमारी योजनाओं के परिणाम हमारी इच्छा के अनुसार अबतक प्रगट नही हुए है बल्कि इस बात पर है कि किस प्रकार इसके चिह्न इतनी शीघ्रता से दिखाई देने लगे है।"[७] १८६३ ई० मे उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण मे मोहम्डन

६. रिपोर्ट कॉन्फ्रेन्स, १८९६ अधिवेशन, पृ० ७१-७८।

७. कॉन्फ्रेन्स, १८९३ अधिवेशन, पृ० १०३।

एजुकेशनल कॉन्फ्रेन्स के समक्ष कहा "जिस मार्ग पर हमने चलना आरम्भ किया है वही सीधा रास्ता है और सीधे मार्ग पर चलने वाला यदि लगातार चलता रहे तो निस्सन्देह लक्ष्य पर पहुँच जाता है।"[८]

मोहसिन-उल-मुल्क ने मुसलमानों की एकता के लिये धार्मिक शिक्षा तथा धार्मिक बन्धनों को अधिक आवश्यक बताया। नवम्बर १८६३ ई० में उन्होंने अलीगढ़ कॉलेज के विद्यार्थियों के समक्ष भाषण करते हुए निम्न लक्ष्य निर्धारित किये।

"तुम यहाँ लौकिक विद्याओं के साथ धार्मिक ज्ञान भी सीखते हो"......"तुम्हें यहाँ कौमी प्रेम सिखाया जाता है, तुम्हारे दिमागों में मुसलमानी विचार भरे जाते हैं" तुम यहाँ ग्रेजुएट ही नहीं बनाये जाते बल्कि सच पूछो तो मनुष्य और न केवल मनुष्य बल्कि मुसलमान"...यदि तुम्हारे दिमाग में इस्लाम की सच्चाई का विश्वास न रहे और तुम अपने धर्म पर स्थिर न रहो और जैसे कि नाम और शक्ल के मुसलमान हो, दिल से मुसलमान न हो तो तुम्हारे ज्ञान से अज्ञान अच्छा। तुम्हारी सभ्यता से असभ्यता अच्छी बल्कि सच पूछो तो तुम्हारे जीवन से कौम के लिये तुम्हारी मौत अच्छी"......जबकि तुम्हारे दिल में इस्लाम ही न रहा तो कौम तुम पर क्या गौरव करेगी"......इस्लाम तुम्हारी जान है इसके बिना कोई कैसा ही महान विद्वान क्यों न हो यह एक शरीर है मिट्टी में दबाने के योग्य और एक लाश है जमीन में छुपाने के योग्य"...... तुम्हारी इच्छा की पराकाष्ठा यह होनी चाहिए कि इस्लाम पर स्थिर रहो, इस्लाम सीखो, इस्लाम पर जीओ और इस्लाम पर मरो।"[६]

वे कॉलेज के विद्यार्थियों को मुसलमान कौमियत से परिपूर्ण बनाना चाहते थे। उन्होंने एक महीने पश्चात् फिर कहा था—"यदि कोई हमारी कौम का विद्यार्थी समस्त पश्चिमी विद्याओं का ज्ञाता हो जावे और समस्त यूरोपीय कलाओं में निपुण तथा प्रत्येक प्रकार की प्रगति प्राप्त कर ले, किन्तु धर्म से अपरिचित हो और इस्लाम पर स्थिर न रहे तो वह कौम के लिये अपमान होगा न कि सम्मान। ऐसे विद्वान मुसलमान की अपेक्षा मूर्ख बने रहना अधिक उचित होगा।"[10]

मोहसिन-उल-मुल्क ने जहाँ एक ओर मुस्लिम विद्यार्थियों को इस्लाम पर डटे रहने को कहा दूसरी ओर अन्य ऐसे संगठनों एवं उलेमाओं से भी सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिससे अलीगढ़ विचारधारा अधिक विस्तृत बन सके। १८६४ ई० में कानपुर में नदवतउलउलेमा (विद्वानों की सभा) का अधिवेशन आरम्भ हुआ। मोहसिन ने इस सभा का पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा

"बिना इस सम्मानित और प्रतिष्ठित समुदाय के जो उलेमा का है हम कभी

---

८. मुहम्मद-ए-आज़िया, पृ० ६१. रिपोर्ट, १८६३ अधिवेशन, पृ० १०८-१०६।

६. गजट, २८ नवम्बर १८६३, पृ० ११८२-८६।

१०. रिपोर्ट, १८६३ अधिवेशन, पृ० ११६।

अपने इरादे मे अच्छी तरह सफल नहीं हो सकते और न केवल हम अपने दुर्बल हाथो के प्रयत्नों से कौम को पार लगा सकते है। हम जो कुछ इस दिशा मे कर रहे हैं······ उसने केवल एक अल्पसंख्यक दल पर प्रभाव डाला है·········हमारी आवाज इसी कमरे मे गूंजती रहती है·········न कौम का बडा भाग हमारी आवाज सुनता है न हम अपने भाईयों को यह रोशनी दिखा सकते हैं, किन्तु जो आवाज उस सभा से निकलेगी जिसके हाथों में मुसलमानो के दिल हैं उसे हर मुसलमान पेशावर से लेकर ब्रह्मा तक, काश्मीर से लेकर मद्रास तक सुनेगा और वह ज्योति जिसे वे लोग दिखायेंगे········ इतनी ऊँची होगी कि उसकी किरणें हर मुसलमान के घर मे दिखाई देंगी।"[११] इसी प्रकार उन्होंने १९०२ ई० में नदवतउलउलेमा के आलोचकों की निन्दा की।[१२]

मोहसिन यह जानते थे कि धार्मिक शिक्षा के विषय में साधारण मुसलमानो को अलीगढ़ कॉलिज पर विश्वास नहीं था। इस काम में उलेमा ने सर सैयद के विरुद्ध अत्यधिक प्रचार किया और अपनी समस्त शक्ति को प्रयोग में लाकर लोगों मे घृणा पैदा कर दी। इसलिए उन्होंने उलेमाओं तथा धार्मिक नेताओं के सहयोग को अत्यधिक आवश्यक समझा।

मोहसिन के आगमन के पश्चात् अलीगढ़ कॉलिज मे धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाने लगा। उन्होंने सर सैयद की मृत्यु के पश्चात् कहा था: "धार्मिक शिक्षा हमारे कालिज का वास्तविक और आवश्यक अंग है और यदि वह पूरा न किया जाये तो हमारा कालिज मोहम्डन कालिज के नाम का अधिकारी नहीं है और न ही हमे भविष्य में युनिवर्सिटी का नाम मोहम्डन विश्वविद्यालय रखना चाहिए।" धार्मिक शिक्षा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा: "यदि मुसलमान विश्व की समस्त विद्यायें पढ़ जाये तथा समस्त भाषायें सीख ले, बी. ए. और एम. ए. होना कैसा बेकन और न्यूटन ही क्यों न हो जाये यदि वे अपनी विद्याएँ, धर्म, अपने साहित्य, इतिहास आदि से अनभिज्ञ रहे तो उनके ज्ञान से अज्ञान, उनकी विद्वत्ता से मूर्खता, उनकी सभ्यता से असभ्यता हजार दर्जे, लाख दर्जे अच्छी है। ऐसे विद्वान कौम के लिए एक आपत्ति होंगे न कि सुविधा। ऐसी शिक्षा, ऐसा प्रशिक्षण कौम के अपमान का कारण होगी न कि सम्मान का·········।"[१३] १९०१ ई० में मोहसिन-उल-मुल्क ने अलीगढ़ कॉलिज के विद्यार्थियों के नाम एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने कहा:

"सर सैयद का अभिप्राय इस कॉलिज के स्थापित करने से था तुम मे नेशनलिटी पैदा करना·········तुम्हे कौम का सेवक बनाना और कौम की सेवा की महानता स्पष्ट करना······ ···मुसलमान चाहे कितनी ही खराब हालत में हों, किन्तु इस्लाम की चिनगारियां उनके हृदय मे अभी भी है, इस्लामी प्रेम कौमी हमदर्दी की

---

११. नदवतउलउलेमा कानपुर और सम्मेलन स्कीमें (१८९४), पृ० ४३।
१२. गजट, ११ दिसम्बर १९०२, पृ० ७६०-७६७।
१३. रिपोर्ट कॉन्फ्रेंस, १८९८ अधिवेशन, पृ० २८४-२८६।

आग अब तक उनके दिलों में है। केवल उसे भड़काने और बाहर निकालने की आवश्यकता है और यही वह कार्य है जो हमें और तुम्हें करना है। क्या मुसलमान नहीं देखते कि उनकी क्या दशा है समय ने क्या रंग दिखाया है.........जीवन निर्वाह के साधन जो दूसरों के लिये खुले हुए हैं उनके लिये बन्द हो रहे हैं।"[१४] सर सैयद जहाँ मुसलमानों को उनके भूतकाल की महानता की याद दिलाकर उत्तेजित करना चाहते थे वहाँ मोहसिन-उल-मुल्क भारत की अन्य कौमों की प्रगति का मानचित्र खींचकर उन्हें उत्तेजित करना चाहते थे। उन्होंने कॉन्फ्रेन्स को सम्बोधित करते हुए कहा :

"जरा आँख खोलकर एक नेशनल कांग्रेस की कार्यवाही को देखिये.........जिस गति से आप चल रहे हैं उनकी बराबर पहुँचना तो दूर उनकी धूल को भी आप नहीं पहुँच सकते। आपकी और उनकी प्रतियोगिता.........एक लगड़े और अपाहिज की गति और रेल पर यात्रा करने वाले की गति जैसी है। यदि आपने इस चाल को न बदला तो कोयले की खानों में कोयला निकालने वालों और स्टेशन पर बोझा ढोने वालों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर आप दिखाई नहीं पड़ेंगे....हमने अपने हाथों अपनी यह दशा कर ली कि जो हमारे अधीन थे हम उनके अधीन हैं। जिन पर हम राज्य करते थे वे हमारे राजा हैं जिन्हें हम घृणा की दृष्टि से देखते थे वे हमें घृणित समझते हैं"[१५]

१८९५ ई० में मोहम्डन एजुकेशनल कॉन्फ्रेन्स के अधिवेशन में यह प्रस्ताव रखा गया कि कॉन्फ्रेन्स का एक दफ्तर हो जिसका खर्च ७५/– रु० मासिक हो। उस अवसर पर भाषण देते हुए मोहसिन-उल-मुल्क ने कहा

"यह कॉन्फ्रेन्स.........नेशनल कांग्रेस की तुलना में कुछ महत्व नहीं रखती है बड़े खेद का विषय है कि जो कौम कल तुम्हारे अधीन थी और तुम्हारी सभाओं में मच तक आते हुए उसके शरीर में कम्पन आता था वह इस वेग से कार्यवाही करे।"[१६] दिसम्बर १९०४ ई० में अलीगढ़ नेताओं ने इण्डियन नेशनल कांग्रेस को राजनीतिक रोने वालों की एक सभा बताया था। उसके वार्षिक अधिवेशन की पूर्व वेला पर यह कहा गया : "वे सदा की भाँति इस महीने के अन्तिम सप्ताह में एकत्रित होकर अपनी शिकायतों का रोना रोयेंगे और चूँकि प्रयत्न यह है कि देश का कोई प्रान्त अथवा भाग शोक मनाने से न बचे इसलिये इस साल बम्बई में आपत्ति फैलेगी। निकट ही में हम दु:ख-दर्द और रोने की बात सुनेंगे।" सैद्धान्तिक रूप में अलीगढ़ विचारधारा की यह मान्यता थी कि भारत में कोई ऐसे उद्योग नहीं थे जिनका

---

१४. गजट, ६ जून १९०१, पृ० २६७।

१५. मुसलमानों की किस्मत का फैसला, (१८९४), पृ० ६१। इस प्रकार के उत्तेजनात्मक भाषण सर सैयद द्वारा कम दिये जाते थे।

१६. रिपोर्ट कान्फ्रेन्स, १८९५ अधिवेशन, पृ० १३९।

विनाश विदेशी पूँजी के फलस्वरूप हुआ हो।[१७] जनवरी १६०७ ई० में अलीगढ़ नेताओं ने बंगाल विभाजन को पूर्वी बंगाल और आसाम के मुसलमानों के लिये मुक्ति का साधन बताया तथा मुसलमानों को इस बात के लिये प्रेरित किया कि वे हिन्दुओं के प्रति दुर्व्यवहार करें क्योंकि अलीगढ़ नेताओं के अनुसार हिन्दू पूर्वी बंगाल में मुसलमानों का सम्मान नहीं करते थे। उसी लेख में यह भी स्वीकार किया गया कि वहाँ के मुसलमानों में बहुधा कृषक, श्रमिक, कुली एवं भिखारी थे तथा हिन्दुओं को "जबरदस्त शत्रु" कहा गया।[१८]

जून १६०७ में मोहसिन-उल-मुल्क ने कहा "यदि हिन्दू.........इग्लैण्ड सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने के लिये कोई बहाना निकाल सकें तो हमें उसकी चिन्ता नहीं है, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत के मुसलमान इसके लिये कोई बहाना प्रस्तुत नहीं कर सकते। मुसलमानों की दशा तो यह है कि वे पारसियों की भांति इग्लैण्ड सरकार के इसलिये आभारी हैं कि भारत में उनका अस्तित्व अंग्रेजी सरकार पर निर्भर है। इन दोनों कौमों के लिये यह कार्य अनुचित होगा कि वे उस सरकार की जड़ उखेड़े जिसके कारण उनको धार्मिक एवं व्यापारिक स्वतन्त्रता उपलब्ध है.........मेरे विचार में इसका अन्तिम परिणाम भारत का विनाश होगा। इस भयंकर उत्साह (कांग्रेसी आन्दोलन) को आरम्भ में ही रोकने के लिये अधिकारियों को अत्यन्त कठोर नियमों से काम लेना आवश्यक है.........एक ऐसी प्रमाणिक घटना जिसे हम कभी नहीं भूल सकते यह है कि अंग्रेजों के आगमन ने ही दिल्ली की इस्लामी सरकार को मराठों, सिक्खों और राजपूतों में विभक्त होने से बचाया और केवल इसी आधार पर भारत के समस्त मुसलमानों को अंग्रेजी सरकार के प्रति भक्त रहना चाहिए।[१६]

मोहसिन-उल-मुल्क और उर्दू :

१८६६ ई० में उत्तर-पश्चिमी सरकार के समक्ष हिन्दुओं द्वारा एक स्मरण-पत्र (मेमोरेन्डम) प्रस्तुत किया गया जिसमें उर्दू के स्थान पर हिन्दी को न्यायालयों की भाषा घोषित करने का अनुरोध किया गया। उस अवसर पर मोहसिन-उल-मुल्क ने एजुकेशनल कान्फ्रेन्स में कहा था : "नागरी भाषा के प्रचलित हो जाने से मुसलमान बहुत हानि उठायेंगे.........इसका आवश्यक परिणाम यह होगा कि मुसलमानों को सरकारी नौकरियाँ मिलनी कठिन हो जायेंगी.........इस परिवर्तन से मुसलमानों को हानि तो स्पष्ट है, लेकिन प्रचलित व्यवस्था में हमारे देशीय भाईयों की कुछ हानि नहीं है क्योंकि जो हालत उनकी अब है वही स्थापित रहेगी.........।"[२०] एक अन्य नेता

---

१७. गजट, २६ दिसम्बर १६०६, पृ० ३-४।

१८. गजट, ६ जनवरी १६०७, पृ० ४।

१६. मोहसिन द्वारा बम्बई गजट के प्रतिनिधि को दिया गया वक्तव्य : गजट, २६ जून १६०७, पृ० ६-७।

२०. रिपोर्ट कॉन्फ्रेन्स, १८६६ अधिवेशन, पृ० १२३।

ने कहा . "उर्दू के स्थान पर नागरी शब्द प्रचलित कर देना हमसे हमारा कौमी चिह्न छीन लेना है''''''देखने में इस विषय में उत्तर-पश्चिमी व अवध के प्रान्त के मुसलमानों का सम्बन्ध है, लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इसका परिणाम भारत की उर्दू भाषा और साहित्य के भाग्य का निर्णय कर देगा।"[२१]

उत्तर-पश्चिमी प्रदेश की सरकार ने १८ अप्रैल १६०० को एक विज्ञप्ति प्रकाशित करके हिन्दी और उर्दू को प्रान्त की न्यायालयों की भाषा बना दिया तथा प्रत्येक सरकारी अधिकारी के लिये हिन्दी और उर्दू का ज्ञान आवश्यक कर दिया। सरकार की इस नीति का विरोध करने के लिये सबसे पहले मोहसिन-उल-मुल्क के घर पर एक सभा का आयोजन किया गया और फिर अलीगढ़ कॉलेज के विद्यार्थियों ने कई सभाओं में अपना रोष प्रकट किया।[२२] एक उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन की स्थापना की गयी जिसका अधिवेशन लखनऊ में १८–१६ अगस्त १६०० ई० को मोहसिन-उल-मुल्क की अध्यक्षता में किया गया। इस सभा में सरकारी निर्णय को वापस लेने की माँग की गयी। प्रदेश के अंग्रेज गवर्नर अलीगढ़ कॉलेज की इस सरकार विरोधी भूमिका से अत्यन्त असन्तुष्ट हुए और उन्होंने अपनी नाराजगी स्पष्ट भी की। मोहसिन-उल-मुल्क ने उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया और यह एसोसिएशन भी शीघ्र ही समाप्त हो गयी।

अंग्रेजों के प्रति निष्ठा एवं भक्ति .

सर सैयद के जीवन काल में अलीगढ़ विचारधारा की एक प्रमुख विशेषता अंग्रेजी सरकार के प्रति निष्ठा एवं भक्ति भावना थी। इस भावना का ही परिणाम था कि सर सैयद अंग्रेज अध्यापकों के प्रभाव को बढ़ते ही रहने देना चाहते थे और इस प्रश्न पर अपने अन्य सहयोगियों (मौलवी समीउल्लाखाँ, मोहसिन-उल-मुल्क वकार-उल-मुल्क) से झगड़ा करने को तैयार थे।[२३] मोहसिन-उल-मुल्क अंग्रेज सरकार और अंग्रेज अध्यापकों में अन्तर करना चाहते थे। वे १८६७ ई० में कॉलेज के प्रबन्ध में अंग्रेजी अध्यापकों के प्रभाव को कम करना चाहते थे और सर सैयद से पूरी तरह झगड़ने को तैयार थे। लेकिन कॉलेज एवं कान्फ्रेंस के सेक्रेटरी बन जाने के पश्चात् वे भी अंग्रेजों के प्रति निष्ठा रखने लगे और १६०१ ई० के हिन्दी उर्दू वाद-विवाद के पश्चात् वे सर सैयद से भी अधिक भीरु बन गये और मुसलमान हितों का एक मात्र संरक्षक अंग्रेजों को मानने लगे। १६०१ ई० में अलीगढ़ गजट में विभिन्न लेखों में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि मुसलमानों को ऐसा कोई राजनीतिक संगठन नहीं बनाना चाहिये जिससे अंग्रेजों को उन पर संदेह हो सके।

---

२१. रिपोर्ट कॉन्फ्रेंस अधिवेशन, १८६६, पृ० १२२।

२२. सेन्ट्रल उर्दू डिफेंस एसोसियेशन की लखनऊ मीटिंग की कार्यवाही, पृ० १७-२०, गजट, ■ मई १६०१, पृ० २०१-२।

२३. मोहम्मद अमीन जुबैरी : मकातीब पृ० ३३-३६।

१६०१ ई० में कुछ विशेष प्रयत्न अलीगढ़ नेताओं को करने पड़े जिनसे वे अंग्रेजों को अपनी भक्ति का विश्वास दिला सकें। इसी वर्ष मोहम्डन एजुकेशनल कान्फ्रेंस की अध्यक्षता के लिये एक यूरोपीय न्यायाधीश, वाडम, को अध्यक्ष पद के लिये चुना गया। इस अवसर पर अलीगढ़ के एक युवक नेता ने कहा कि "इस देश में मुसलमान और अंग्रेज यद्यपि धर्म और रंग की दृष्टि से दो अलग-अलग कौमें हैं, लेकिन आपसी दोस्ती और हमदर्दी के हिसाब से दोनों एक कौम हैं।"[२४]

१६०१ ई० में मद्रास में भाषण करते हुए मोहसिन-उल-मुल्क ने कहा कि "सरकार से अधिक कोई इस बात का इच्छुक नहीं है कि मुसलमान उन्नति करें""""" सरकार का यह राजनीतिक सिद्धान्त है कि जो कौम एक समय में अत्यन्त शक्तिशाली थी और जिसमें शराफत की गंध पाई जाती है वह पददलित न हो"""""सरकार के विषय में यह सोचना कि वह मुसलमानों की उन्नति में सहायता नहीं देना चाहती। निराधार और अनुचित होगा।"[२५]

इस समय प्रचलित मुस्लिम राजनीतिक संगठन सम्बन्धी वाद-विवाद में यह बार-बार दोहराया जाता था कि मुसलमानों को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जिससे अंग्रेजों को उनकी निष्ठा एवं भक्ति पर संदेह हो जाये और सर सैयद के ५० वर्षों के प्रयत्न व्यर्थ हो जाएँ। अब वे अपने दृष्टिकोण में सर सैयद से भी अधिक भीरु बन गये। १६०४ ई० में अलीगढ़ कालिज के प्रिन्सिपल पद के लिये उपयुक्त व्यक्ति के चयन में उन्होंने मोरिसन (भूतपूर्व कॉलिज के प्रिन्सिपल) की इच्छाओं का ही समर्थन करना अधिक उचित समझा, यद्यपि जिस व्यक्ति को मोरिसन चाहते थे उसे अधिकांश अलीगढ़ नेता नहीं चाहते थे। मोहसिन को भय था कि "यूरोपीय अध्यापकवर्ग यदि इंग्लैण्ड में एक बार हमारे कॉलिज प्रशासन के विरुद्ध यह आन्दोलन आरम्भ कर दें कि वहाँ (अलीगढ़ कॉलिज) नौकरी करना ८० व्यक्तियों (ट्रिस्टियों) के अधीन रहना होता है तो इससे हमें अत्यन्त हानि पहुँचेगी।"[२६]

इसलिये जब १६०७ ई० में अलीगढ़ कॉलिज के विद्यार्थियों ने अपने अंग्रेज अध्यापकों के विरुद्ध हड़ताल करदी तो इससे कॉलिज के नेताओं को काफी परेशानी हुई और उन्होंने इस बात का बहुत प्रयत्न किया कि अलीगढ़ की परम्परा पर कोई धब्बा न आने पावे। उस समय मोहसिन-उल-मुल्क ने विद्यार्थियों को यह कहकर सीधे मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया कि "लोग समझते हैं कि तुम (नेशनल) कांग्रेस में सम्मिलित हो गये हो। तुम्हारे हृदय में अंग्रेजों के लिये अच्छे विचार नहीं हैं, तुम सरकार के लिये अच्छे विचार नहीं रखते हो"""तुम्हें शर्म और दुख प्रकट करना

---

२४. रिपोर्ट कान्फ्रेंस, १६०१ अधिवेशन, पृ० १५।

२५. वही, पृ० ५६।

२६. मकातीब, पृ० ६३, ६२-६६, मोहसिन-उल-मुल्क एवं सैयद जाफरहुसैन के पत्र।

समक्ष अपनी आवश्यकताओं को प्रस्तुत नही किया था।[२९]

अलीगढ़ कॉलेज के प्रिन्सिपल मोरिसन ने भी मोहसिन-उल-मुल्क के विचारों का समर्थन किया। कांग्रेस में सम्मिलित होना प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करने के बराबर था, किन्तु यह सिद्धान्त मुसलमानो के विशिष्ठ अधिकारों के लिये घातक सिद्ध होने वाला था तथा इसका दूसरा परिणाम हिन्दुओं के बहुमत के पैरों तले कुचला जाना बताया गया था जिससे मुसलमानो के समाप्त हो जाने का भय था। कांग्रेस की भाँति ही एक अन्य संगठन स्थापित करना भी हानिकारक कहा गया था क्योकि ऐसे संगठन के लिये धन और नेता कहाँ से आयेंगे। मुसलमानों के राजनीतिक सगठन को वर्ष भर कार्य करने के लिये सरकार की नीतियों की आलोचना करनी आवश्यक होगी। जिससे साधारण मुसलमानो में असन्तोष पैदा होगा। इसके अतिरिक्त राजनीतिक आन्दोलन के पश्चात् मुसलमानों की माँगो की परीक्षा प्रारम्भ होगी जिससे उन्हें हानि पहुँचेगी क्योकि उन्हें अनुपात से अधिक नौकरियाँ पहले से ही मिली हुई थी। इसलिए मुसलमानों को कुछ शिक्षित नेताओ की एक समिति बनानी चाहिए जो बहुधा अपनी बैठकें करती रहे और प्रचार के लिये पैम्फलेट आदि प्रकाशित करती रहे।[३०]

इस समय राजनीतिक संगठन की आवश्यकता पर सब मुसलमान नेता सहमत थे, लेकिन वे ऐसा संगठन चाहते थे जिससे उनके सीमित और विशिष्ट अधिकार सुरक्षित रह सकें। सामान्य आन्दोलन के लिये वे सब अपने आपको असमर्थ समझते थे। सर सैयद की नीति के विरुद्ध मुस्लिम नवयुवकों में फैले असन्तोष को नियन्त्रित करना ही अलीगढ नेताओ के समक्ष मुख्य समस्या थी। वे सर सैयद द्वारा बताये गये मार्ग पर ही चलते रहना चाहते थे।

इन समस्याओ पर विचार विमर्श के लिए २१-२२ अक्तूबर १९०१ को लखनऊ मे कुछ प्रतिष्ठित लोगों की एक सभा हुई जिसमे मोहसिन-उल-मुल्क की नीति का अनुमोदन कर दिया गया और सर सैयद द्वारा स्थापित मार्ग को उचित ठहराया गया। इस मीटिंग मे यह निश्चय किया गया कि विभिन्न जिलो से ऐसे व्यक्तियों को छाँट लिया जाये जिनकी वार्षिक आय ५०० रु० से अधिक हो और उन सदस्यो की एक स्थायी संस्था बनाई जाये।

इस सभा में जो प्रस्ताव पास किये गये वे विशेष महत्व के थे। यहाँ यह निश्चय किया गया था कि मुसलमानों का भविष्य अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा के साथ

---

२९. गजट, २२ अगस्त १९०१, पृ० ४५८।

३०. गजट, १५ सितम्बर १९०१, पृ० ५१७-५१९। मोहसिन-उल-मुल्क इस विचार से सहमत नही थे क्योकि उनका कहना था कि जनसंख्या के आधार पर हिन्दू और मुसलमान कर्मचारियों में अनुपात निश्चित करना सर्वथा अनुचित था। मुसलमानो को नौकरियाँ उनके ऐतिहासिक महत्व के आधार पर मिलनी चाहिये। गजट, ७ नवम्बर १९०१, पृ० ६३०-६३१।

जुड़ा हुआ था और इण्डियन नेशनल कांग्रेस का समर्थन करने से मुसलमानों को रोका गया।[३१]

अलीगढ़ विचारधारा के नेताओं के समक्ष १९०० ई० के पश्चात् यह समस्या अत्यन्त जटिल बनी हुई थी कि अलीगढ़ कॉलेज के विद्यार्थियों को राष्ट्रीय कांग्रेस के आन्दोलन में सम्मिलित होने से कैसे रोका जाये। यदि अलीगढ़ कॉलेज के विद्यार्थी नेशनल कांग्रेस में सम्मिलित हो गये तो अलीगढ़ कॉलेज का महत्त्व सरकार के समक्ष घट जाएगा क्योंकि अलीगढ़ विचारधारा के नेता अंग्रेजों के प्रति भक्ति पर अत्यधिक जोर देते थे।[३२] कॉलेज को वास्तविक सम्मान इस कारण प्राप्त था कि वह कौम को शिक्षा के अतिरिक्त राजनीतिक मार्ग भी दिखाता था जब वह इस योग्य न रहेगा तो उसका मूल्य सरकार की दृष्टि में बहुत कम हो जायगा""""हर स्थिति में जो कुछ करना है, तुरन्त होना चाहिये वरना फिर यह अवसर हाथ से निकल जायगा।[३३] इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के पूर्व ही अलीगढ़ नेता प्रतिनिधित्व अथवा प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के विरुद्ध थे। ये कांग्रेस का विरोध १८८७ ई० में ही कर चुके थे और १८८७ ई० के पश्चात् अपने विशेषाधिकारों के लिए प्रयत्नशील थे।

दूसरी समस्या जो अलीगढ़ नेताओं के समक्ष थी वह भारत के विभिन्न भागों के मुसलमानों के नेतृत्व की थी। बंगाल और दक्षिणी भारत के मुसलमान भी कांग्रेस आन्दोलन से प्रभावित थे और अलीगढ़ नेताओं पर संकुचित होने का आक्षेप लगाते थे। अलीगढ़ के विभिन्न नेता इस चिन्ता से अवगत थे। इसलिये वे भारत के मुसलमानों के आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथों में रखना चाहते थे।

मुसलमानों में अपना एक पृथक राजनीतिक संगठन बनाने की आवश्यकता १९०१ के पश्चात् अनुभव की जाती थी। इसका मुख्य कारण यह भावना थी कि मुसलमानों को लेजिस्लेटिव कौन्सिलों तथा अन्य उच्च स्थानों में केवल सरकार की कृपा पर ही निर्भर रहना पड़ता था। दूसरा यह कारण था कि नियुक्त किए गए मुसलमानों में से अधिकांश उनके वास्तविक दृष्टिकोण को व्यक्त नहीं करते थे।

---

३१. गजट ३१ अक्तूबर १९०१, पृ० ६२२-६२३, १४ नवम्बर १९०१, पृ० ६५७-६५६।

३२. अलीगढ़ कॉन्फरेंस हाल में सुरक्षित हस्तलिखित पत्र जो मोहसिन-उल-मुल्क, वकार-उल-मुल्क तथा आफताब अहमदखाँ ने एक दूसरे को लिखे, इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। अंग्रेजी सरकार में विशेषकर उत्तर पश्चिमी प्रदेश में अलीगढ़ के पढ़े हुए विद्यार्थियों को नौकरियों में विशेष सुविधाएँ उपलब्ध थी। यदि ये विद्यार्थी कांग्रेस में सम्मिलित हो गये तो यह विशेष सुविधाएँ बंद हो जाएंगी। १९०१-१९०६ ई० के मध्य अलीगढ़ नेताओं में व्यापक चिंता दिखाई पड़ती है। साधारणतया राजनीतिक आन्दोलन अथवा संस्थाओं के गठन में इस ओर ध्यान बहुत कम दिया जाता है। यह चिंता ही उनके सङ्गठन बनाने में सहायक हुई।

३३. आफताब अहमदखाँ का पत्र वकार-उल-मुल्क के नाम दि० १८ अगस्त १९०६। पत्र अलीगढ़ कॉन्फरेंस हाल में सुरक्षित है।

शिक्षा में पर्याप्त प्रगति कर लेने के पश्चात् ही राजनीतिक संगठन बनाने मे अधिक लाभ हो सकता था।

१६०३ ई० में मुसलमानों की सामूहिक आवश्यकताओं के विषय में अलीगढ नेताओं ने लिखा था कि सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की थी कि समुदाय की शक्तियों को संगठित किया जाए। लोग यह समझते थे कि शिक्षा के लिये प्रयत्न करना प्रमुख आवश्यकता थी, लेकिन शिक्षा भी कौम को संगठित करने के लिये आवश्यक थी।[३४] अलीगढ विचारधारा के अनुसार भारत न कभी एक कौम था न यहाँ के निवासियों में एक कौमियत की भावनाएँ थी। उसी समय प्रकाशित सर जॉन स्ट्रेची की पुस्तक के इन विचारों का अनुमोदन किया गया था।[३५] कि भारत में कोई भारतीय जनता नही थी। यदि ऐसी जनता होती तो इतनी सरलता से अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित न होता। यदि भारत मे विभिन्न कौमें न रहती होती तो अंग्रेज ३० करोड़ वाले देश को जीत नही सकते थे। प्रोफेसर सीले के विचारों का भी समर्थन किया गया था कि भारत को विदेशी नियन्त्रण से कोई आपत्ति नही थी क्योंकि भारत कोई इकाई नही था, इसलिए भारत के निवासी भी एकता मे बँधे हुए नही थे। भारत भी यूरोप की भाँति विभिन्न देशों मे विभक्त था और भारत में एक राष्ट्रीयता की भावना उतनी ही कठिन थी जितनी समस्त यूरोप के निवासियों मे किसी एक राष्ट्रीयता की भावना थी।[३६]

१६०३ ई० मे अलीगढ विचारधारा के नेता यह प्रश्न सामान्यतः पूछते थे कि क्या मुसलमान अन्ततः एक सभ्य एवं सम्पन्न कौम बन जायेंगे? उनका कहना था कि भारत के मुसलमान मुख्यतः एक ही धर्म का अनुसरण करते थे। एक ही देश में एक ही शासक के अधीन रहते थे। परिस्थितियों ने उन्हे एक कौम (नेशन) बनने मे सहयोग दिया था।[३७] सर सैयद का मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्रसार न होकर मुसलमानों को एक कौम (नेशन) बनाना था। सर सैयद इस कार्य मे धर्म और शिक्षा को महत्वपूर्ण अंश मानते थे। मुसलमानों के आगामी राजनीतिक संगठन का सबसे बड़ा कार्य सरकार की नीतियों को जनता के समक्ष समझाना तथा लोगों मे सरकार के विरुद्ध असन्तोष फैलने को रोकना था। प्रतिष्ठित व्यक्तियों का भावी राजनीतिक संगठन के साथ सम्बन्धित होना इस बात का आश्वासन होगा कि राजनीति निम्न स्तर की नहीं होगी। इसलिए प्रभावशाली एवं योग्य मुसलमानों को इससे अलग नहीं रहना चाहिये। इसी समय मोहसिन-उल-मुल्क ने एक परिपत्र प्रकाशित किया जिसके अनुसार विभिन्न स्थानों पर इस्लामी संस्थाओं के अध्यक्षों,

---

३४. गजट, ४ अप्रैल १६०३, पृ० २-३।

३५. सरजॉन स्ट्रेची की पुस्तक 'इण्डिया' इस समय में (१६०३) प्रकाशित हुई थी।

३६. गजट, १८ जुलाई १६०३, पृ० २-३।

३७. गजट, ८ अगस्त १६०३, पृ० २-३।

सचिवों को अन्य प्रतिष्ठित कार्यकर्त्ताओं के विषय मे सूचना एकत्र करने को कहा गया। इसका उद्देश्य यह था कि अपने कौमी उत्थान की योजनाओं में उन लोगों का समर्थन प्राप्त किया जा सके।[३८]

१९०१ ई० में अलीगढ के नेता राजनीतिक सगठन के विषय मे चिन्तित दिखाई पड़ते थे, लेकिन १९०३ ई० में उन्होंने राजनीतिक संगठन को सभ्य समाज में सम्मानित एवं सम्पन्न जीवन के लिये आवश्यक ठहराया। यदि मुसलमान शान्ति से रहकर उन्नति करना और अपने अधिकारों को प्राप्त करना चाहते थे तो उन्हें राजनीतिक सगठन मे भाग लेना आवश्यक था। १९०१ मे वे लोगों को राजनीतिक संगठन से अलग रहने की बात कहते थे क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं सरकार की उनकी ओर से भ्रान्ति न हो जाय। इसलिए अब उन्होंने यह भी कहा कि राजनीतिक सगठन में भाग लेने मे उन्हें सरकार से किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिए। सर सैयद की मृत्यु के पश्चात् वे एक ऐसी सस्था स्थापित करना चाहते थे जो "समस्त कौम की आवश्यकताओं और कौमी जनमत को सरकार के समक्ष प्रस्तुत कर सके।"[३९]

१९०४ ई० में अलीगढ़ नेताओं की इस नीति की आलोचना की जा रही थी कि उन्होंने मुसलमानों के राजनीतिक भविष्य के विषय में कोई योजना नहीं बनाई थी। इसका परिणाम यह हो सकता था कि मुसलमान आने वाले समय में निश्चित रूप से कांग्रेस में सम्मिलित हो जावें। मोहसिन ने यह आश्वासन दिलाया कि १८९३ ई० की डिफेन्स एसोसियेशन की भाँति एक सगठन बनाने का कार्य नवाब वकारलमुल्क को सौप दिया गया था।[४०] कुछ सप्ताह बाद अलीगढ नेताओं ने यह माँग भी प्रस्तुत की थी कि "अंग्रेज सरकार मुसलमानों को अन्य विजित जातियों की भाँति नहीं समझे बल्कि मुसलमानों को विश्व की राजनीति मे एक दल समझे"" यहाँ तक कि इंग्लैण्ड अपने अस्तित्व और प्रगति मे मुसलमानों के अस्तित्व और उन्नति को एक आवश्यक अंग समझे।"[४१] सभ्यता और संस्कृति में मुसलमान और अंग्रेज आपस में अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक निकट बताए जाते थे।

इस प्रकार १९०५ ई० तक अलीगढ विचारधारा के अनुसार यह स्पष्ट था कि मुसलमानों का सरकारी सेवाओं में अंश जनसंख्या मात्र के आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता था। वे अपने ऐतिहासिक महत्त्व पर अत्यधिक बल दे रहे थे। वे अलीगढ कॉलेज के महत्त्व को बनाये रखने के कारण यह चाहते थे कि राजनीतिक आन्दोलन सामान्य मुसलमानों में न फैले तथा अलीगढ विचारधारा का नेतृत्व

उपलब्ध रहे। ये कारण ही १९०६ ई० में शिमला शिष्टमण्डल के लिये उत्तरदायी हुए। १९०५ ई० में वकारउलमुल्क द्वारा एक स्मरण पत्र तैयार किया गया था जिसमें मुसलमानों की मुख्य मांगों को लिया गया था, उसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि अलीगढ़ में सुरक्षित है। इस प्रतिलिपि में प्रस्तावित मांगों में और १९०६ ई० में वास्तव में प्रस्तुत मांगों में कोई विशेष अन्तर नहीं है ऐसी स्थिति में १९०६ ई० में प्रस्तावित मांगों को अंग्रेजों द्वारा प्रोत्साहित बताना गलत है।

शिमला शिष्टमण्डल भेजने का विचार एवं उसके द्वारा प्रस्तुत मांगें मूलतः अलीगढ़ नेताओं एवं अलीगढ़ विचारधारा का ही परिणाम थीं। १९०६ ई० में जॉन मोर्ले ने भारत में कुछ संवैधानिक सुधार प्रस्ताव के विचाराधीन होने की घोषणा की थी। इस घोषणा से अलीगढ़ मुसलमान नेताओं में बड़ी बेचैनी जागृत हुई और उन्होंने अपनी शक्तियों को एकत्रित करके अपने विशिष्ट अधिकारों को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया। शिमला शिष्टमण्डल का उत्तरदायित्व निश्चित करने के लिये विभिन्न घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन नीचे किया जा रहा है।

(१) १९०६ ई० में मिन्टो और मोर्ले दोनों ही प्रतिक्रियावादी तत्वों को अपने साथ मिलाने की सोच रहे थे, लेकिन उन्होंने मुसलमानों को अपने साथ मिलाने की बात नहीं सोची थी। मिन्टो ने मोर्ले को २८-मई, १९०६ को एक पत्र लिखा था जिसमें उसने लिखा था : "मैं पिछले कुछ दिनों से कांग्रेस के उद्देश्यों के विरुद्ध साधनों के विषय में सोच रहा हूँ शायद यह हमें नरेशों की समिति में अथवा इसके विस्तृत प्रारूप में मिल सकें जिसमें केवल शासकों को ही नहीं अपितु कुछ अन्य बड़े व्यक्तियों को भी सम्मिलित कर लिया जाये जो वर्ष में एक बार सप्ताह अथवा पखवाड़े के लिये मिल सकें।"[४२] मोर्ले ने उत्तर में कहा कि उसे कांग्रेस से हर स्थिति में निपटना पड़ेगा।[४३]

(२) मोहसिनउलमुल्क ने ४ अगस्त, १९०६ को बम्बई से आर्चबोल्ड को एक पत्र में लार्ड मोर्ले के भाषण से उत्पन्न मुसलमानों में व्याकुलता की चर्चा की और मोर्ले की घोषणा को इण्डियन नेशनल कांग्रेस की बड़ी सफलता बताया। उन्होंने आगे लिखा : "आप यह जानते हैं कि मुसलमान पहले से ही असन्तुष्ट है और शिक्षित मुसलमान युवक कांग्रेस के प्रति सहानुभूति रखते हैं। इस भाषण से उनमें कांग्रेस में सम्मिलित होने की भावना बढ़ेगी.......लोगों में यह सामान्य शिकायत है कि हम (अलीगढ़ नेता) राजनीति में भाग नहीं लेते हैं और मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा नहीं करते हैं। विधान सभाओं में निर्वाचित प्रतिनिधियों के नये प्रस्तावों में.......यदि निर्वाचन पद्धति को अधिक विस्तृत कर दिया गया तो मुसलमानों को शायद ही कोई स्थान मिले जबकि हिन्दू बहुसंख्यक होने के फलस्वरूप

---

४२ काउन्टेस ऑफ मिन्टो - इण्डिया-मिन्टो-मोर्ले, पृ० २८-२९।

४३ मोर्ले रिकलेक्शन्स, जि० २, पृ० १७६।

समस्त स्थानों पर अधिकार प्राप्त कर लेंगे और कोई मुसलमान निर्वाचन द्वारा कौंसिल में प्रवेश नहीं पा सकेगा। सरकार का ध्यान मुसलमानों के अधिकारों पर विचार करने के लिये वायसराय के समक्ष एक स्मरण-पत्र प्रस्तुत करने का प्रस्ताव रखा गया है। इसलिए क्या तुम सूचना दोगे कि वायसराय के समक्ष मुसलमानों की ओर से स्मरण-पत्र प्रस्तुत करने तथा इस विषय पर एक शिष्टमण्डल द्वारा मुसलमानों के विचार वायसराय के समक्ष प्रस्तुत करने की अनुमति का अनुरोध करना उचित होगा ? तुम्हें वहाँ सरकारी अधिकारियों की सम्मति जानने के अच्छे साधन उपलब्ध है और तुम इस विषय में मुझे अमूल्य परामर्श दे सकते हो" ।[४४]

(३) मिन्टो ने ८ अगस्त, १६०६ को मोर्ले को लिखा कि "यह पत्र मेरे सामने आज ही रखा गया है। यह मुस्लिम विचारधारा का तथा उनके उस भय का कि विधान सभाओं के विस्तार के समय मुस्लिम हितों की अनदेखी हो सकती है चित्र प्रस्तुत करता है। मुझे प्रस्तावित शिष्टमण्डल के स्वीकार करने के प्रश्न पर विचार करने का समय नहीं मिला है, लेकिन मैं ऐसा करने के लिये विनत हूँ।[४५]

(४) आर्चबोल्ड ने ९ अगस्त, १६०६ को वायसराय के निजी सचिव को सूचित किया कि उसने मोहसिनउलमुल्क को कुछ भी करने के लिये उस समय तक मना किया था जबतक वह अपने विचार न लिखे। इस शिष्टमण्डल को वायसराय द्वारा भेंट प्रदान करना अत्यन्त उचित होगा। यदि मुसलमानों की तत्कालिक उत्तेजित स्थिति में उनकी क्रियाशीलता को एक उचित और नियमित दिशा में मोड़ा जा सके, यदि शिष्टमण्डल को कुछ सन्तोषजनक उत्तर दिया जा सके तो उससे स्थिति बहुत शान्त हो जायगी। उसने आगे लिखा "मैं शिष्टमण्डल के नेताओं की व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर यह कह सकता हूँ कि कोई भी ऐसी बात जो लेशमात्र भी आपत्तिजनक अथवा निष्ठाहीन हो नहीं कही जायगी। मुसलमानों में सरकार को कोई कष्ट देने की भावना नहीं है, केवल भविष्य के लिये एक व्यापक व्याकुलता है कि कहीं नये सुधारों में उनकी ओर कोई ध्यान ही न दिया जाए।"[४६]

(५) डेनज़िल इबेटसन (वायसराय की कौंसिल का एक सदस्य) ने १० अगस्त, १६०६ ई० को लिखा कि वह इस बात से सहमत था कि वायसराय मुसलमानों के शिष्टमण्डल को अनुमति प्रदान करें और उन्हें सहानुभूतिपूर्ण उत्तर दें। उसने इस बात की पुष्टि की थी कि मुसलमानों की नई पीढ़ी उत्तेजित एवं चिन्तित है, "लेकिन

---

४४ मिन्टो के मोर्ले को भेजे गये पत्र (८ अगस्त, १६०६) के साथ संलग्न (मिन्टो के इंगलैण्ड निवासियों से भेजे गये निजी पत्रों में उपलब्ध, रील न० ४, पत्र न० ६)

४५ वही।

४६ आर्चबोल्ड का डनलपस्मिथ के नाम पत्र, ९ अगस्त, १६०६। (मिन्टो पेपर्स, माइक्रो फिल्म रील न० १)

उनको कांग्रेस दल मे धकेल देना भारी विपत्ति होगी क्योंकि इस समय शिक्षित मुसलमान भारतीय समाज में सबसे अधिक रूढ़िवादी तत्त्व है।"[४७]

(६) डनलपस्मिथ ने १० अगस्त, १९०६ ई० को आर्चबोल्ड को सूचना दे दी कि वायसराय शिष्टमण्डल स्वीकार करेंगे। आर्चबोल्ड ने इस समय अन्य मुसलमान नेताओं को पत्र लिखे कि वे युवा वर्ग को नियन्त्रित रखें।

(७) आर्चबोल्ड ने १४ अगस्त को शिष्टमण्डल द्वारा प्रस्तावित आवेदन-पत्र का मसौदा बनाकर भेजा था, लेकिन मोहसिनउलमुल्क ने उसकी कई प्रमुख बातों को स्वीकार नही किया। उत्तर मे मोहसिन ने यह बात स्पष्ट लिखी थी कि मुसलमान अलीगढ़ कॉलेज को भी चन्दा देना बन्द करने की बात कह रहे थे यदि उन्होंने (अलीगढ़ नेताओं ने) उनके हितो के लिये कुछ न किया। उन्होंने आगे लिखा कि 'वर्तमान असन्तोष लिबरल सरकार के कारण है.........जॉन मोर्ले एक दार्शनिक हैं और उन्हे दर्शन पर व्याख्यान देते रहना चाहिये था। प्रत्येक व्यक्ति इस बात पर खेद करता है कि भारत का भाग्य उनके हाथों मे है। उनकी नीति ने भारत को बहुत हानि पहुँचाई है और अधिक पहुँचने की आशा है। क्या सरकार के लिये यह उचित है कि वह भारत की जनसख्या के एक महत्वपूर्ण वर्ग को जो अपने हितो की सुरक्षा के लिए सदा सरकार पर निर्भर रहा है असन्तुष्ट हो जाने दे और वे हिन्दुओं की भाँति आन्दोलन आरम्भ करें। मैं केवल आशा करता हूँ कि भारत सरकार मुसलमानो की बढ़ती हुई उत्तेजना को कम करने और उनकी विवशता को दूर करने के लिए कुछ करेगी"।[४८]

(८) मिन्टो ने मोर्ले को लिखा कि फुलर के त्यागपत्र से मुसलमानो में असन्तोष बढ़ेगा क्योंकि वह पूर्वी बंगाल मे हिन्दू और मुसलमानों को एक-दूसरे से भिड़ा रहा था। मुसलमानों मे व्यापक असन्तोष से कुछ लाभ ही होगा क्योंकि इससे वह पक्ष सामने आयेगा जो अभी तक कांग्रेस आन्दोलन के कारण छिपा हुआ था।[४९]

(९) पूर्वी बगाल और आसाम के गवर्नर 'हेयर' ने १ सितम्बर, १९०६ को वायसराय के निजी सचिव को लिखा कि यदि सरकार मुसलमानों के संरक्षक होने का आश्वासन दिया जाए और शिष्टमण्डल के सदस्यों को मुसलमानों का वास्तविक प्रतिनिधि मान लिया जाये तब फिर उनके लिये राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ करने की आवश्यकता नही रह जायेगी। यदि मुसलमानो ने आन्दोलन आरम्भ कर दिया तब इसका परिणाम अत्यन्त घातक होगा।

---

४७ इबेटसन का पत्र डनलपस्मिथ के नाम १० अगस्त, १९०६ (मिन्टो पेपर्स, रील न० १)।

४८ मोहसिन का १८ अगस्त, १९०६ का पत्र जो आर्चबोल्ड ने डनलपस्मिथ को भेजे गये अपने पत्र दि० २२ अगस्त, १९०६ के साथ सलग्न कर दिया था। मिन्टो पेपर्स, रील नं० १, पत्र न० २५।

४९. मिन्टो का पत्र मोर्ले के नाम, दि० १५ अगस्त, १९०६, (रील न० १)।

१६०६ ई० में अंग्रेज सरकार द्वारा यह घोषणा किये जाने के पश्चात् कि भारतीय विधान सभाओं के गठन में कुछ सुविधाएँ विचाराधीन हैं अलीगढ़ नेताओं ने कुछ प्रयत्न करने की सोची। चूँकि अलीगढ़ आन्दोलन का एक निश्चित ध्येय अंग्रेज सरकार के प्रति भक्त रहना तथा उसे प्रसन्न रखना था, इसलिये अंग्रेज सरकार के समक्ष अपना स्मरण-पत्र प्रस्तुत करने के पूर्व नेताओं द्वारा यह मालूम कर लेना आवश्यक था कि अंग्रेज किस प्रकार का स्मरण-पत्र पसन्द करेंगे[५०] यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि अलीगढ़ के मुसलमान नेताओं ने जिन अधिकारों की कल्पना कर रखी थी वह बिना अंग्रेज़ी सरकार के संरक्षण के उपलब्ध हो ही नहीं सकते थे। उन विशिष्ट अधिकारों की कल्पना ही अलीगढ़ विचार शैली को अन्य विचार शैलियों से भिन्न रख सकी।

अलीगढ़ नेताओं ने अपनी माँगों को १ अक्तूबर, १६०६ को एक शिष्टमण्डल द्वारा अंग्रेज वायसराय लार्ड मिन्टो के समक्ष शिमला में प्रस्तुत किया। इस शिष्ट-मण्डल को मोहम्मदअली ने १६२३ ई० में 'आदेशानुसार कार्य' की उपाधि दी थी।[५१] उस समय से इस विचारधारा की मान्यता बनी हुई है यद्यपि तथ्य इसके विपरीत हैं। सामान्यतः अलीगढ़ आन्दोलन के समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं तथा वहाँ के नेताओं के आपस में लिखे गये पत्रों के अध्ययन के पश्चात् इसमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता है कि इस शिष्टमण्डल का समस्त उत्तरदायित्व अलीगढ़ नेताओं पर ही था और अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपल आर्चबोल्ड का योगदान अपने मालिकों की सहायता करने तक सीमित था। यह तथ्य मिन्टो के गोपनीय एवं निजी पत्रों से भी भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

१ अक्तूबर, १६०६ को आगाखाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक विशिष्ट मण्डल शिमला में वायसराय से मिला। उन्होंने एक विस्तृत स्मरण पत्र प्रस्तुत किया जिसमें मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

"भारत के मुसलमान १६०१ ई० की जनगणना के अनुसार ६ करोड़ २० लाख से अधिक हैं और समस्त भारत की जनसंख्या का १/५ से १/४ भाग के मध्य हैं। लेकिन यदि बहुत-सी असभ्य जातियों की तथा ऐसे वर्ग की जनसंख्या को जिन्हें हिन्दू कहा गया है, लेकिन जो हिन्दू नहीं है घटा दिया जाये तो मुसलमानों का अनुपात हिन्दुओं की तुलना में बहुत बढ़ जायेगा। इसलिए हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि उस समुदाय को जो रूस को छोड़कर यूरोप की अन्य किसी भी राज्य की समस्त

---

५० १८६५ ई० में तैयार की गई माँगों का ब्योरा भी पहले अंग्रेज उच्च अधिकारियों के पास भेजा गया था। बाद में सर सैयद अन्य कठिनाइयों में फँस गये। इसी कार्य को १६०६ ई० में दोहराया गया था।

५१ मोहम्मदअली के अध्याय में उनकी इस कल्पना की वास्तविकता पर विचार प्रकट किए गए हैं।

जनसंख्या से बड़ा है राज्य में विशेष महत्त्व का माना जाना चाहिए। हम यह और कहना चाहेंगे कि मुस्लिम कौम को जो स्थान किसी भी प्रतिनिधि सभा अथवा निर्वाचन पद्धति में दिया जाये वह केवल उनकी संख्या के अनुसार ही नहीं, अपितु उनके राजनीति महत्त्व तथा उनके साम्राज्य की सुरक्षा सेवा में योगदान के अनुकूल होना चाहिये। हम यह आशा करते हैं कि आप उस स्थिति को भी ध्यान में रखेंगे जो उन्हें भारत में १०० वर्षों से अधिक पूर्व उपलब्ध थी और जिसकी स्मृतियाँ उनके मस्तिष्क से मिटी नहीं हैं।

निर्वाचन के परिणामों के विषय में यह अत्यन्त अस्वाभाविक है कि वर्तमान चुनाव संस्थायें किसी ऐसे मुसलमान का नाम सरकार की स्वीकृति के लिये शायद ही प्रस्तुत करेंगी जबतक वह सब महत्त्वपूर्ण विषयों में बहुमत के साथ सहानुभूति न रखता हो[४२] ....फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मुसलमान एक भिन्न कौम है जिनके अपने विशिष्ट हित है.......किसी भी समुदाय का राजनीतिक महत्त्व बहुत सीमा तक राज्य की सेवाओं में उपलब्ध भाग पर निर्भर करता है।"

सारांशत: यह मांग प्रस्तुत की गई कि उन्हें राजकीय सेवाओं में, उच्च न्यायालयों में, म्युनिसिपल कौंसिलों में, यूनिवर्सिटियों की सीनेट में, प्रान्तीय तथा वायसराय की सभाओं में उचित स्थान मिलना चाहिये और एक मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना होनी चाहिये।"[४३]

इस स्मरण पत्र के उत्तर में मिन्टो ने अत्यन्त आशाजनक उत्तर दिया.

"आपकी आज यहां उपस्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण है......मैं आपके शिष्टमण्डल के प्रतिनिधित्व स्वरूप का स्वागत करता हूँ जोकि भारत के जागृत मुस्लिम सम्प्रदाय की इच्छाओं तथा दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करता है। मैं अनुभव करता हूँ कि जो कुछ आपने कहा है वह एक प्रतिनिधि मण्डली द्वारा कहा गया है।.......एक विजेता तथा अधिकारी जाति के वंशज, आपने आशावान भविष्य, सामान्य शान्ति, धार्मिक स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये आभार व्यक्त किया है जो भारत को अंग्रेजी प्रशासन से उपलब्ध हुई है। आपके शिष्टमण्डल प्रस्ताव का सार, जैसा मैं समझता हूँ यह दावा है कि प्रतिनिधित्व की किसी भी प्रणाली में चाहे वह म्युनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अथवा लेजिस्लेटिव कौंसिल से सम्बन्धित हो जिसमें निर्वाचन पद्धति का समावेश अथवा उसको बढ़ाना हो मुस्लिम समुदाय को एक समुदाय की भाँति ही प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए".... ...."आप यह दावा न्यायसंगत ही करते हैं कि आपकी महत्वात्मक शक्ति दोनों प्रकार से—आपके समुदाय का राजनीतिक महत्त्व अथवा साम्राज्य के प्रति अर्पित सेवा—आपको विशिष्ट महत्त्व के अधिकारी बनाती

---

४२ शिष्टमण्डल के नेतागण सम्भवतः यह सोचते थे कि मुसलमानों का बहुमत के साथ सहमति रखना ही एक दोषपूर्ण कार्य होगा।

४३. रामगोपाल : इण्डियन मुस्लिम्स, परिशिष्ट 'B', पृ० ३२६-३३५।

है। मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ मैं यह बताने का कोई प्रयत्न नहीं करता हूँ कि किन साधनों से समुदायों का प्रतिनिधित्व उपलब्ध किया जा सकता है मैं आपको केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मुस्लिम सम्प्रदाय निश्चिन्त रह सकता है कि उनके एक सम्प्रदाय की भाँति राजनीतिक अधिकार और हित किसी भी ऐसे प्रशासनिक पुनर्गठन में सुरक्षित रहेंगे जिसके साथ मैं सम्बन्धित हूँ।"[५४]

अन्त में पुनः मिन्टो ने कहा "मैं आपके शिष्टमण्डल का आभारी हूँ जिसने मुझे इतने प्रतिष्ठित एवं प्रतिनिधित्व मुसलमानों से मिलने का अवसर प्रदान किया है।........" वायसराय के भाषण के लिये आभार प्रकट करते हुए मोहसिनउलमुल्क ने डनलपस्मिथ को लिखा कि वायसराय के महत्वपूर्ण भाषण ने एक पृथक् समुदाय के रूप में भारत के मुसलमानों के अधिकारों को स्पष्ट एवं सहानुभूतिपूर्ण रूप से स्वीकार किया था। उनके राजनीतिक महत्व जो अन्य किसी से भी कम नहीं थे की उदार प्रशंसा ने उनमें एक नया जोश भर दिया था और वे तथा उनकी पीढ़ियाँ भारत सरकार की नीति की इस ऐतिहासिक घोषणा को हमेशा बहुमूल्य समझेंगे।[५५]

इस शिष्टमण्डल की सफलता के पश्चात् मुसलमानों के एक राजनीतिक संगठन की स्थापना दिसम्बर १९०६ ई० में ढाका में उस समय हुई जबकि वहाँ मोहम्डन एजुकेशनल कान्फ्रेन्स का २०वां वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। मुस्लिम लीग की स्थापना अलीगढ़ नेताओं की विचारधारा के आधार पर हुई जिसके अनुसार मुसलमानों के पृथक् अस्तित्व की बात कही गई थी। इसके उद्देश्यों में प्रथम स्थान मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति निष्ठा उत्पन्न कराना और दूसरा स्थान भारतीय मुसलमानों की भलाई तथा राजनीतिक अधिकारों को सुरक्षित रखना था।

इस प्रकार मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन की अलीगढ़ विचारधारा मुसलमानों के ऐतिहासिक गौरव तथा उनके पूर्व शासकों के वंशज एवं पृथक् हितों के प्रस्ताव को सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर सकी और लार्ड मिन्टो द्वारा इन विशिष्ट सुविधाओं को मनवा सकी। अक्टूबर १९०६ ई० में शिमला शिष्टमण्डल के अध्यक्ष सुल्तान मोहम्मद शाह आगाखां ने चीन जापान की यात्रा पर जाते हुए वायसराय के निजी सचिव को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने मोहसिन को दिये गये परामर्श का वर्णन किया था, उन्होंने कहा था कि किसी भी कार्य अथवा नीति अपनाने के पूर्व निजी साधनों से सरकार की अनुमति एवं इच्छा जान लेना आवश्यक था उन्हें इस बात का भय था कि कहीं वे अनजाने में ऐसा कार्य न कर बैठें जिससे सरकार को असुविधा हो।[५६]

---

५४ रामगोपाल परिशिष्ट 'C', पृ० ३३५-३३८।

५५ मोहसिन का पत्र डनलपस्मिथ के नाम, ७ अक्टूबर, १९०६ : मिन्टो पेपर्स, न० १०९।

५६. आगा खाँ का पत्र डनलपस्मिथ के नाम, २९ अक्टूबर, १९०६, मिन्टो पेपर्स।

४

मौलाना मोहम्मद अली

(१८७८–१९३१)

बीसवीं सदी में मौलाना मोहम्मदअली के समान यदि कोई अन्य मुस्लिम नेता लोक चर्चा का विषय बना तो केवल मोहम्मद अली जिन्ना और वह भी १९४० ई० के पश्चात्। मौलाना मोहम्मद अली ने पचास वर्ष की आयु में अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं का एक वृत्तान्त लिखा था जिसमें उन्होंने यह बताया कि भारतीय राज्यों में उच्च नौकरी के अवसर को छोड़कर उन्होंने १९१२ ई० में पत्रकारिता के व्यवसाय को अपनाया था जिससे वे 'मिल्लत' और 'देश' की सेवा कर सके। १९१२ ई० से १९१५ ई० तक और १९२० ई० के पश्चात् मौलाना समाचार-पत्रों द्वारा अपने विचारों का प्रचार करते रहे। इस कार्य में उनकी कीर्ति हुई अथवा अपकीर्ति, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। उनकी अभिलाषा थी कि वे अज्ञात न रहें। वे जीवन भर इस बात के इच्छुक रहे कि लोग उन्हें जानें।[1]

कीर्ति की इस अभिलाषा ने उन्हें किसी दल में न रहने दिया। उनके एक अभिन्न और श्रद्धालु मित्र ने कहा है कि "वह न स्वयं कोई दल बना सके और न किसी बनी बनाई पार्टी में अधिक समय तक निर्वाह कर सके·······जिस वस्तु को मौलाना ने ठीक समझ लिया बस उसे दाँत से पकड़ लिया फिर चाहे इसमें सब ही का साथ छोड़ देना पड़े।" ऐसे अवसर पर वह न किसी मित्र का ध्यान करते थे न निकट सम्बन्धी का, न छोटे-बड़े की परवाह करते थे, न गुरु शिष्य की चिन्ता करते थे।[2] यही कारण था कि मोहम्मद अली की पार्टी बदलती रही और उनके

---

१ मौलाना सरवत रहमानी द्वारा सम्पादित हयात-ए-जौहर पृ० २५ तथा २७। 'जौहर' मौलाना का उपनाम था जो वे कविताओं में प्रयोग करते थे।

२ अब्दुल माजिद दरयाबादी : मोहम्मदअली–निजी डायरी, भाग १, पृ० २८७ तथा ३४४। बाद में इस पुस्तक को केवल डायरी ही लिखा गया है।

दोस्तों में परिवर्तन होता रहा । इसीलिए जीवन भर मोहम्मद अली अकेले रहे ।[3]

कीर्ति की अभिलाषा के अतिरिक्त मोहम्मद अली के व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता यह थी कि वे लड़ाकू स्वभाव के व्यक्ति थे । उन्होंने सन् १९२३ ई० के कांग्रेस अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था "मैं जीवन भर एक लड़ाकू रहा और लड़ाइयों में मैं निःसन्देह अपनी समस्त शक्ति स्वाभाविक रूप से लगा देता था, किन्तु आपने मुझे अध्यक्ष बनाकर मेरी स्वतन्त्रता को जंजीर पहना दी । मैं अपनी इस स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए आज भी अध्यक्षता के मूल्यवान सम्मान को छोड़ने के लिए तैयार हूँ ।[4] दिसम्बर १९३० ई० में भाषण देते हुए उन्होंने प्रथम गोलमेज सम्मेलन के समक्ष कहा था

"याद रखिए कि जब मैं अंग्रेजों से लड़ सकता हूँ तो हिन्दुस्तानियों से भी लड़ सकता हूँ । लेकिन पहले मुझे कोई ऐसी चीज तो दीजिए जिसके लिए मैं लड़ सकूँ.......यद्यपि आयु में मैं उन (मिस्टर जयकर) से बड़ा हूँ लेकिन स्वभाव और लड़ने की इच्छा के हिसाब से मैं अभी एक नवयुवक हूँ ।"

मोहम्मद अली का समस्त जीवन द्वन्द्वों तथा संघर्षों में व्यतीत हुआ ।[5] ये संघर्ष काफिरों और अधर्मियों से, मिल्लत के शत्रुओं और कौम के द्रोहियों से ही नहीं थे बल्कि मित्रों और सहयोगियों से भी थे, अपने भक्तजनों और निष्ठावान अनुयायियों से भी और अपने प्रशंसकों तथा निकट सम्बन्धियों से भी ।[6] अब्दुल माजिद दरयाबादी ने मोहम्मद अली के जीवन के संघर्षों का वर्णन करते हुए कहा है : "आज इससे लड़ाई, कल उससे लड़ाई, गवर्नमेंट की सरकार से लड़ाई, मुस्लिम लीग से लड़ाई, कांग्रेस से लड़ाई, मोतीलाल नेहरू से लड़ाई, फरंगी महल[7] से लड़ाई,

---

३ रईस अहमद जाफरी मकाईबात-ए-मोहम्मद अली, पृ० १६६-१६७ ।

४ मोहम्मदअली हिन्दुस्तान की सियासी उलझनें, (अध्यक्षीय भाषण) पृ० १६-१७ । यह उनके इंग्लिश अध्यक्षीय भाषण का उर्दू अनुवाद है जो नदीर फरीदी ने किया है । यह अध्यक्षीय भाषण दो सौ पृष्ठों से अधिक है और मौलाना इसे दो दिनों तक देते रहे थे । वही, पृ० १० । ऊपर दिये गये वाक्यों में से अन्तिम वाक्य मौलाना के १९२३ ई० के पश्चात् के व्यवहार को समझने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं ।

५ कुछ लेखकों ने इन संघर्षों के लिये 'जिहाद' शब्द का प्रयोग किया है । व्युत्पत्ति अर्थों में जिहाद प्रयत्न करने को कहते हैं ।

६ यह टिप्पणी मौलाना के प्रशंसक रईस अहमद जाफरी द्वारा की गई है मकाईबात-ए-मोहम्मदअली, पृ० १३, तथा इफादात-ए-मोहम्मदअली, पृ० ६ ।

७ फरंगी महल लखनऊ में अत्यन्त प्रभावशाली संस्था थी । मौलाना अब्दुल बारी फरंगी महल के प्रमुख थे । मोहम्मदअली को मौलाना की उपाधि उन्होंने ही दी थी यद्यपि मोहम्मदअली किसी अरबी मदरसे के पढ़े हुए नहीं थे तथा व्याकरण, कुरान का अर्थ निकालना, हदीसों के अध्ययन में मोहम्मदअली ने विशेष योग्यता प्राप्त नहीं की थी । मकालात, पृ० १० ।

डाक्टर अन्सारी जैसे घनिष्ट मित्र से लड़ाई।"[८]

इस शत्रुता और संघर्ष का प्रमुख कारण था मोहम्मद अली की क्रुद्ध करने की आदत। जवाहरलाल नेहरू ने जो मौलाना के अध्यक्षकाल में कांग्रेस के महामंत्रि रहे थे, कहा है कि मोहम्मद अली ने अपने इस स्वभाव के कारण ही अपने बहुत से मित्रों को अपना शत्रु बना लिया था।[९] यदि किसी समय उनके शुभचिन्तक उन्हें यह बताना भी चाहें कि उनके साथ कोई नहीं रहा, सब उन्हें छोड़कर चले गए, तो वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे क्योंकि मोहम्मद अली अत्यन्त आँधी और तेज स्वभाव के व्यक्ति थे। उनके इस स्वभाव की उनके मित्रों तथा विरोधियों ने विस्तारपूर्वक चर्चा की है "जब जिस पर चाहा कारण, अकारण बिगड़ पड़े, बरस पड़े, उबल पड़े।"[१०] वे अपनी भावनाओं के वशीभूत रहते थे। जब भावनाओं की बाढ़ आती तो सब कुछ अपने साथ बहाकर ले जाती।[११] वे कभी किसी की गलती माफ नहीं करते थे।[१२] जो कुछ समझ में आया बेधड़क कर गुजरे, जो दिल में आया बिना नतीजे वह गुजरे। कभी इसी बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि उनके समर्थक क्या कहेंगे और बहुत से अनुयायी उनके हाथ से निकल जायेंगे। उनका कहना था कि "मैं मरते मरते मर जाऊँगा लेकिन किसी भी औचित्य के आधार पर किसी की कौमी गद्दारी क्षमा नहीं करूँगा। सब मेरा साथ आज छोड़ दें। मैंने काम साथियों के भरोसे नहीं, अल्लाह के भरोसे पर आरम्भ किया था। उसे स्वीकार होगा तो वह नये साथी पैदा कर देगा.......शरीर का जो भाग खराब हो जाय उसे काट ही डालना चाहिए।"[१३]

मोहम्मद अली के इस स्वभाव का ही परिणाम था कि वे लोग भी जो १९१२ ई० में (जब पहली बार 'कामरेड' पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ था) मोहम्मद अली के अधीन रहने अथवा उसकी चाकरी करने में अपना सम्मान

---

८ डायरी, प्रथम भाग, पृ० ३२२, इसी प्रकार के विचार मोहम्मद अली की मृत्यु पर समाचार-पत्र सच के १६ जनवरी, १९३१ ई० के अंक में छपे थे।

९. जवाहरलाल नेहरू: आत्म कथा, पृ० ११७, 'मकाइबात' में इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। पृ० १८-२७।

१० डायरी, भाग पहला, पृ० ३६३।

११ वही, पृ० २८६।

१२ मकाइबात, पृ० १९६-१९७। गबन क्या है इसका निर्णय भी वे अपनी इच्छानुसार ही करते थे। उन्हें सेठ छोटानी द्वारा खिलाफत फन्ड में १६ लाख रुपयों का गबन गलत नहीं लगता था। उन्होंने अपने एक लेख में बताया था कि गबन एक बार नहीं जितनी ही बार हो जाये यदि किसी के पास पैसा है और उसे किसी के लिये प्रेम है तो वह अवश्य पैसा देता रहेगा (हमदर्द, १८ जनवरी, १९२५, से उद्धरित : मकाइबात, पृ० ४९-५०)।

१३. डायरी, प्रथम भाग, पृ० ३४४।

समझते थे, १६२४ ई० में डटकर विरोध करने पर तुल गये थे। कामरेड के भूतपूर्व सम्पादक, सहायक मैनेजर तथा अन्य प्रमुख कर्मचारी या तो मर चुके थे अथवा रुठकर जा चुके थे। और मोहम्मद अली को पुनः पत्र प्रकाशित करने में उनका सहयोग नहीं मिल सका।

मोहम्मद अली अलीगढ़ कालिज के स्नातक थे और अपने विद्यालय के प्रति निष्ठावान थे, किन्तु उन्हें कॉलेज ट्रस्टियों की सरकार के प्रति भक्त रहने वाली नीतियाँ पसन्द नहीं आई और १६२० ई० में मौलाना ने उनकी तीव्र आलोचना की। इसका परिणाम उन्होंने स्वयं १६२७ ई० में बताया था कि "अब सात वर्षों से हम अलीगढ से निकाले हुए बाहर पड़े हैं।"[१४] वे रामपुर में पैदा हुए थे तथा वहाँ पर १६०३-४ ई० में मुख्य शिक्षा अधिकारी रहे, किन्तु आलोचना करने के कारण बाद में उनका रामपुर में प्रवेश तक वर्जित कर दिया गया था।

१६२५ ई० में मोहम्मद अली की पहली भयंकर और कटु लड़ाई प्रारम्भ हुई और वह भी अपने गुरु मौलाना अब्दुल बारी फरंगी महल के साथ। यह लड़ाई अगस्त १६२५ से जनवरी १६२६ ई० तक चली। इस संघर्ष में मौलाना को अत्यधिक अपमान सहन करना पड़ा। जितने अशालीन कारटून मोहम्मद अली के विरुद्ध इस समय में निकले, जितने शब्द मौलाना को सुनने पड़े उतने पहले कभी नहीं।[१५] इन घटनाओं से उनके स्वभाव का तीखापन जितना बढ़ गया था, उसी मात्रा में कांग्रेस में उनकी ऊब और मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने की उत्कंठा बढ़ी हुई दिखाई दी। १६२५ ई० में लाहौर में भाषण देते हुए उन्होंने स्वीकार किया कि वहाँ के मुसलमान उनसे दुखी थे, उनका नाम सुनना भी पसन्द नहीं करते थे, लेकिन वे घबराने वाले नहीं थे।[१६]

१६२६-१६२८ ई० के मध्य दो अन्य प्रमुख संघर्षों में मोहम्मद अली उलझ गये। एक हदीस के मानने वालों तथा 'जमींदार' (समाचार-पत्र) के विरुद्ध, जो विशेषकर पंजाबी टोले से लड़ाई के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा दिल्ली के प्रसिद्ध नेता ख्वाजा हसन निजामी के विरुद्ध था। १६२७ ई० में ही 'रंगीला रसूल' नामक पुस्तक से उन्हें भारी वेदना हुई और उसके पश्चात् पंजाब में साम्प्रदायिक दंगों और स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या से क्षोभ पहुँचा। इसी समय उनके नेतृत्व के विरुद्ध मुसलमानों का भारी गठबन्धन हुआ। १६२८ ई० में 'हमदर्द' के आर्थिक संकट तथा उनकी बढ़ती हुई डायबिटीज की बीमारी उनके लिये भारी परेशानी का कारण बनी।[१७] ५० वर्ष की आयु में अपने जीवन विवरण में उन्होंने लिखा

---

१४. हमदर्द, २४ जून, १६२७।

१५ डायरी, भाग पहला, पृ० २६२-२६३।

१६ हमदर्द, २ सितम्बर १६२५, (मकालात-ए-मोहम्मदअली, पृ० ७५)।

१७ हमदर्द, २७ अप्रेल, १६२६ तथा २४ जून, १६२७ (इफादात-ए-मोहम्मदअली, पृ० २७६-२८७, ३०७-३१०)।

"जिस समय से लोक कार्यों में भाग लेना आरम्भ किया डायबिटीज का रोगी रहा हूँ। अन्तिम तिहाई आयु में (३४ से ५० वर्ष की आयु में) बीमार रहा हूँ। स्मरण शक्ति अत्यन्त ही दुर्बल हो गई है।"[१८] उनके अपने अन्तिम वर्षों में जमैयत उल उलेमा और नेशनलिस्ट मुसलमानों से संघर्ष आरम्भ हुआ। साथ ही उनका स्वास्थ्य भी अत्यन्त खराब होता गया। उपरोक्त घटनाओं का विस्तृत विवरण इस पुस्तक की सीमाओं से बाहर है। यहाँ अभिप्राय केवल मौलाना के व्यक्तित्व को स्पष्ट करना है।

१९२९ ई० में मोहम्मद अली जमैयत खिलाफत के अध्यक्ष अवश्य थे, लेकिन स्वयं जमैयत में ही अब कोई जान शेष नहीं रह गई थी।[१९] १९३० ई० में खिलाफत कमेटी कांग्रेस से खुल्लम खुल्ला लड़ाई कर रही थी और खिलाफत कमेटी में मौलाना अकेले थे। उनके सब पुराने साथी जैसे डाक्टर अनसारी, सैयद महमूद, मौलाना अबुलकलाम आजाद और अब्दुल मजीद ख्वाजा आदि कांग्रेस कैम्प में थे। जमैयत उलउलेमा के लोग भी धीमे-धीमे उसी ओर चले गये। अंग्रेजी के अधिकांश समाचार-पत्र उनके दुश्मन थे। उर्दू के गैर मुसलमान अखबार भी उन्हें बहुत अपशब्द कहते थे और इनसे बढ़कर था दिल्ली और लाहौर के विभिन्न मुस्लिम समाचार-पत्रों का विरोध।[२०] इस प्रकार मौलाना को कौमी जीवन में हर ओर से विरोध, अपने प्रत्येक लक्ष्य एवं दिशा में असफलता निश्चित-सी दिखाई पड़ती थी। चाहे लोग 'कामरेड' और 'हमदर्द' के प्रशंसक हों, लेकिन खरीदार कोई नहीं था।[२१]

मोहम्मद अली के चिन्तन का विकास :

मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए मोहम्मद अली उन तीनों विभिन्न नीतियों से किसी न किसी रूप से सम्बन्धित रहे जो २०वीं सदी के प्रथम दशकों में अपनाई गई थीं। यह तीन नीतियाँ थीं .

(१) १९०६ ई० में शिमला शिष्टमण्डल तथा मुस्लिम लीग की स्थापना;

(२) १९१५ ई० के पश्चात् हिन्दुओं से सहयोग की नीति; और

(३) १९२४ ई० के पश्चात् मुसलमानों के पृथक् संगठन तथा उन्हें शक्तिशाली बनाने की नीति।

१९०६ ई० में वे शिमला शिष्टमण्डल के सदस्य थे। वे साम्प्रदायिक पृथक् निर्वाचन के साथ-साथ सम्मिलित निर्वाचन पद्धति को भी मुसलमानों के लिए आवश्यक समझते थे।[२२] इस पहले चरण में १९११ ई० में बंगाल विभाजन का

---

१८ हयात-ए-जौहर, पृ० २८।

१९. डायरी, भाग २, पृ० १०५।

२० वही, पृ० १०७-१०८।

२१. हमदर्द, २७ जून, १९२७, डायरी भाग २, पृ० १९१।

२२. मजामीन, मोहम्मद अली, भाग २, पृ० १९२-१९३।

समाप्त किया जाना मुसलमानों को अत्यन्त अप्रिय लगा। मोहम्मद अली ने मुसलमानों को जागृत करने के लिए 'कामरेड' पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया। वे १९१२-१५ ई० में 'कामरेड' पत्र के सम्पादक के रूप में विख्यात हुए। इस पत्र के माध्यम से उन्होंने भारत के मुसलमानों को अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से परिचित कराया तथा अंग्रेजों पर आश्रित रहने की नीति के दोष स्पष्ट किए। १९१३ ई० में कानपुर मस्जिद की घटना पर मोहम्मद अली ने संयुक्त प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के गवर्नर तक की आलोचना की। नवम्बर १९१४ ई० में तुर्की ने प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी का साथ देने का निश्चय किया। मोहम्मद अली के विचार तुर्की समर्थक अधिक थे। परिणामस्वरूप उन्हें 'कामरेड' पत्र बन्द करना पड़ा। मोहम्मद अली को मई १९१५ ई० में जेल में बन्द कर दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अंग्रेजों के विरोध से मुसलमानों की असफलता तथा भारत में कांग्रेस के विरोध से बंगाल विभाजन की समाप्ति से विभिन्न मुसलमान नेताओं में यह भावना बढ़ी कि भारत में हिन्दुओं के साथ मिलकर कार्य किया जाए। मुस्लिम लीग के संस्थापकों में से एक होने के कारण मोहम्मद अली भी इस नीति के समर्थक रहे किन्तु वे इस दिशा में कोई सक्रिय कार्य नहीं कर सके क्योंकि उन्हें १९१५ ई० में बन्दी बना लिया गया था। मोहम्मद अली ने अपने कांग्रेस अध्यक्षीय भाषण में यह कहा था कि वह स्वयं और उनके भाई शौकत अली कांग्रेस तथा लीग को एक-दूसरे के निकट लाने के लिए उत्तरदाई थे[२३] लेकिन १९१६ ई० के लखनऊ समझौते को १९२३ ई० में भी उन्होंने लाभदायक नहीं समझा।[२४] बाद में तो उन्होंने इस समझौते को मुस्लिम हितों के विरुद्ध ही बताया था।[२५] १९१७ ई० में उन्हें मुस्लिम लीग की अध्यक्षता के लिए चुना गया लेकिन वे कोई अध्यक्षीय भाषण नहीं दे सके थे क्योंकि वे जेल में बन्द थे। अपनी आप बीती में जो कृतज्ञता मोहम्मद अली ने इस सम्मान के लिए प्रकट की थी वह १९२३ ई० में कांग्रेस के अध्यक्ष बनने के लिये भी प्रकट नहीं की थी।[२६] २८ दिसम्बर, १९१९ को उन्हें जेल से छोड़ा गया। उस समय तक वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर हो चुके थे और पूर्वी यूरोप के भागों में तुर्की का नियन्त्रण प्रायः समाप्त हो चुका था। जेल में रहने की अवधि में मोहम्मद

---

२३ अध्यक्षीय भाषण, पृ० ९०-९१।

२४ अध्यक्षीय भाषण, पृ० १२८-१६०-१६१।

२५ मजामीन, भाग २, पृ० १६१-१६२।

२६ हयात-ए-जौहर, पृ० २५-२६।

अली के दिमाग पर कुरान और करबला छाये हुए रहे।[२७] जनवरी १९१९ में भी जब कुछ घरेलू आवश्यकता से उन्हे कुछ दिनों के लिये जेल से उनके घर (रामपुर) जाने की अनुमति मिल गई थी, उनका प्रोग्राम निश्चित सा हो था। जेल से छूटने के पश्चात् उनका विचार भारत और यूरोप का दौरा करने का तथा इस्लाम की तबलीग करने का था।[२८]

जेल से छूटने के तुरन्त पश्चात् मोहम्मद अली अमृतसर में हो रहे मुस्लिम-लीग तथा कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेने के लिये पहुँचे। १९२१ ई० तक वे भारत में और भारत के बाहर खिलाफत आन्दोलन के नेता के रूप में कार्य करते रहे। इस समय उनके विभिन्न भाषणों में हिन्दू मुस्लिम एकता का भाव मिलता है। वे यह जानते थे कि खिलाफत आन्दोलन उस समय तक प्रभावशाली नहीं हो सकता था जबतक कि वे इस समस्या को अखिल भारतीय समस्या न बना लें और २२ करोड़ हिन्दुओं का समर्थन उपलब्ध न करा लें। इसलिए उन्होंने अपने विभिन्न भाषणों में हिन्दू मुस्लिम एकता की बात कही थी। इस प्रकार इस्लाम की स्वतन्त्रता के लिये भारत में हिन्दुओं का सहयोग आवश्यक समझा गया था। उन्होंने खिलाफत को एक धार्मिक संस्था के रूप में प्रस्तुत किया। १९१९–१९२१ ई० के मध्य मोहम्मद अली ने अपने विभिन्न भाषणों से मुसलमानों में राजनैतिक जागरण पैदा किया। १९२१–२३ के मध्य उन्हें फिर बन्दी बना लिया गया। अगस्त १९२३ ई० में वे मुक्त किये गये और उस समय उन्हें राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। इस अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता, असहयोग आन्दोलन के स्थगित करने से असन्तोष और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपने विचार स्पष्ट किये।

१९२३ ई० में मोहम्मद अली ने स्वीकार किया था कि मुसलमान उस समय भी यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि उन्हे अपने सम्प्रदाय की सुरक्षा के अतिरिक्त भारत के विस्तृत लाभ के लिये अपने पड़ोसियों के अधिकारों की सुरक्षा भी करनी आवश्यक थी।[२९] हिन्दुओं के साथ मैत्री स्थापित करने की दिशा में मुसलमानों के सोचने के मुख्य कारण केवल वे कड़ुवे अनुभव थे जो विदेशी और गैर मुस्लिम राज्यों की सहायता पर निर्भर रहने से पैदा हुए थे। अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त करने

---

२७ छिंदवाड़ा जेल से २५ जुलाई, १९१९ को लिखा हुआ पत्र–डायरी, भाग १, पृ० ३९। करबला के युद्ध में मुसलमानों के नेता हुसैन की मृत्यु हुई थी जिसे शिया मुसलमान मोहर्रम के रूप में अभी तक मनाते हैं। यह युद्ध मुसलमानों के लिए अत्यन्त हानिकारक माना जाता है। बाद में मोहम्मदअली ने राष्ट्रवादियों पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने ही सरकार से कहकर मोहम्मदअली को जेल में बन्द करवाया तथा उनके पत्र को बन्द करवाया। खिलाफत कान्फ्रेन्स १९२९ ई० में मोहम्मद अली का अध्यक्षीय भाषण: मज़ामीन, भाग २, पृ० २३६।

२८ डायरी, भाग १, पृ० ८० तबलीग का अर्थ है धर्म प्रचार।

२९ अध्यक्षीय भाषण, पृ० ९३।

के लिये अपने हिसाब से प्रत्येक सम्भव बलिदान करके भी उन्हें कुछ उपलब्ध नही हुआ था।[३०]

इसके विपरीत वे हिन्दुओ के साथ अंग्रेजो की अपेक्षा बहुत कम त्याग करके अधिक लाभदायक समझौता कर सकते थे।[३१] अपनी विवशता के समय भी (१९११-२३) मोहम्मद अली ने कहा था कि वे देश प्रेम और कौमियत की उस प्रकार की भावना पैदा करना नही चाहते थे जैसी जापान में थी। बल्कि वे कैनाडा की भाँति एक धार्मिक समझौता चाहते थे जो व्यवहारिक हो।[३२] इस समय भी उन्होंने हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक झगड़ो के मुख्य कारणों का वर्णन किया था किन्तु उनका अन्तिम निर्णय यह था कि इनके लिये किसी कौमी समझौते की सम्भावना नही थी। राष्ट्रीय कांग्रेस ऐसे प्रयत्न कर सकती थी किन्तु उसे भी किसी एक विशेष वर्ग से कुछ अधिक आशा नही करनी चाहिए थी वे पहले ही यह कह चुके थे कि गो-हत्या से (यदि वह गऊ मुसलमान की अपनी सम्पत्ति है) कोई खराबी नही थी।[३३]

मोहम्मद अली के जीवन मे १९२४ ई० मुसीबत और परेशानी का वर्ष था। १ मार्च, १९२४ ई० को उनकी एक लाड़ली बेटी, 'आमना', की मृत्यु हो गयी। अभी इससे सम्भलने भी नही पाए थे कि उन पर यह विपदा गिरी कि मुस्तफा कमालपाशा ने खिलाफत सस्था को ही सदा के लिए तुर्की से समाप्त कर दिया। अप्रैल मे उनके बड़े भाई शौकतअली सख्त बीमार पड़े और इसी समय हमदर्द अखबार निकालने के उत्तरदायित्व की परेशानी बढ़ी। यह वर्ष उनकी कांग्रेस की अध्यक्षता का वर्ष था और इसी समय साम्प्रदायिक दगे बहुत बढ़े जिन्हे हल करने का उत्तरदायित्व भी उन पर था। २१ सितम्बर, १९२४ ई० को गांधीजी ने इन साम्प्रदायिक दगो को दूर करने के लिये २१ दिन का व्रत ले लिया।

१९२४ के पश्चात् उनके समक्ष मुख्य समस्या मुसलमानो के लिए एक नया मार्ग खोज लेने की थी। खिलाफत आन्दोलन असफल रह चुका था। मुस्लिम लीग, जमीयत-उल-उलेमा और जमीयत खिलाफत प्रमुख मुस्लिम सगठन थे जो मुसलमानो के राजनीतिक हितो के समर्थक थे।

१९२४-२६ ई० का समय मोहम्मद अली के लिये अत्यन्त निराशा और असफलता का समय था। अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिये मोहम्मद अली मुसलमानो के हितो की एक ऐसी योजना का निर्माण अथवा समर्थन

---

३० अध्यक्षीय भाषण, पृ० ८९।

३१ अध्यक्षीय भाषण, पृ० ७३ तथा ७९, तकारीर, भाग पहला, पृ० ४४। अंग्रेज सरकार पर निर्भरता की नीति समाप्त करने का एक कारण यह भी था कि वह अपने प्रश्रय के लिये मूल्य अधिक माँगती थी। मजामीन, भाग २, पृ० १६३।

३२ अध्यक्षीय भाषण, पृ० ९२।

३३ अध्यक्षीय भाषण, पृ० १४६। १९२३ ई० में हमदर्द में भी इसी प्रकार से लिखा था। इफादात, पृ० १०९-११०।

करने के लिये तैयार थे जिससे वे मुसलमानों के हितों के सबसे उग्र समर्थक और उनमें लोकप्रिय बने रह सकें।[34] फरवरी १९२९ ई० में लिखते हुए उन्होंने इसी बात को विस्तार से स्पष्ट किया था कि मुसलमानों के राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति न तो महात्मा गांधी कर रहे थे और न मोतीलाल। मोहम्मद अली जिन्ना भी भारत के मुसलमानों के ठीक प्रतिनिधि नहीं थे यद्यपि यह सम्भव था कि वे मुसलमानों की उचित माँगों को प्रस्तुत कर सकें।[35] मार्च १९२७ ई० में उन्होंने अन्य मुसलमान नेताओं के साथ मिलकर दिल्ली प्रस्ताव प्रस्तुत किए। इस समय राजनीतिक समस्या पर सब ओर विचार हो रहा था। १९२७–२८ के मध्य वे यह प्रयत्न करते रहे कि यह प्रस्ताव जिनमें मुसलमानों के हितों की पर्याप्त सुरक्षा होती थी भारत के विभिन्न मुस्लिम दलों द्वारा स्वीकृत हो जाएँ। वे इस समय में काफी बीमार भी रहते थे।

मौलाना की अस्वस्थता और डायबिटीज की बीमारी को देखकर डाक्टरों ने उन्हें इलाज के लिये इंगलैंड जाने की सलाह दी थी। १९२८ ई० में वे इलाज कराने के लिये इंगलैंड गये थे। वहाँ से लौटने पर जनवरी १९२९ ई० में उन्होंने लिखा था कि ऊपरी रूप से वे निर्धनता की शिकायत करते थे किन्तु वास्तव में उनकी शिकायत अपने सहधर्मियों की लापरवाही की थी। यदि वे किसी परदेश में मर जाते तो कम से कम गरीबी तो न स्पष्ट होती। मोहम्मद अली विदेश से लौटे थे किन्तु वास्तव में परदेश से अधिक वे अपने ही देश में अपरिचित दिखाई पड़ते थे।[36] डाक्टरों ने उन्हें १९३० में इंगलैण्ड जाने से मना किया था लेकिन मौलाना जिद करके इंगलैण्ड गये थे। उन्होंने इंगलैण्ड में मरने से कुछ पूर्व अपने एक मित्र से कहा था "अफसोस, मुसलमानों ने मेरा सम्मान नहीं किया। भारत के मुसलमान जीवित व्यक्तियों की पूजा नहीं करते मुर्दों को पूजते हैं। जब मैं मर जाऊंगा उस समय मुझे याद करेंगे। मगर मैं भी उनसे तंग आया हूँ कि भारत में मैं मरने ही का नहीं। खुदा करे मुझे भारत से मौत ही न आए"[37] उनके मन में ऐसे ही विचार थे जिसके कारण उन्होंने गोलमेज सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में घोषणा की थी कि "मैं अपने देश को केवल उसी स्थिति में जाऊंगा जबकि स्वतन्त्रता की अनुमति मेरे हाथ में हो। मैं एक गुलाम देश को वापस नहीं जाऊंगा। मैं परदेश में जबतक वह स्वतन्त्र हो मरने को अधिक

---

३४ हमदर्द, १८ अप्रैल, १९२७; मजामीन, भाग २, पृ० १२१। मोहम्मदअली को अपनी अलोकप्रियता का बहुत खेद था। एक वर्ष पश्चात् भी उन्होंने यह दावा प्रस्तुत किया था कि सात करोड़ मुसलमान में से एक भी ऐसा नहीं जिसने कम से कम इस कार्य में उनसे अधिक समय लगाया हो और उनसे अधिक परिश्रम किया हो। हमदर्द, २२ मार्च, १९२८, मजामीन भाग २, पृ० १९६।

३५ मजामीन, भाग २, पृ० २४५-४६, (हमदर्द, २० फरवरी, १९२९)। मोहम्मदअली का अभिप्राय था कि जिन्ना उनके प्रस्तावों को अपने सुझाव कहकर प्रस्तुत कर सकते थे।

३६. मजामीन, भाग २, पृ० २७५-७६।

३७. हयात-ए-जौहर, पृ० १२१।

मेरा धर्म है। यदि मैं यह न मानूँ तो फिर मुसलमान भी नहीं रहूँगा।"[४६]

मोहम्मदअली और खिलाफत :

यद्यपि मौलाना मोहम्मदअली अपने राजनीतिक जीवन मे विभिन्न दलों मे संघर्ष करते रहे और अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में वे अत्यन्त अलोकप्रिय भी हो गये थे फिर भी १९१९–१९३० ई० के मध्य उनका विशेष महत्व समग्र मुस्लिम राजनीति में बना रहा। इसका रहस्य था खिलाफत आन्दोलन जिसके द्वारा उन्होंने मुस्लिम राजनीति को एक नया मोड़ प्रदान किया था। १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों मे तुर्की सुल्तान के इस्लामी जगत् के खलीफा होने के प्रश्न पर विचार-विमर्श करके भारत के जागरूक मुसलमान नेता उसे अस्वीकृत कर चुके थे।[४७] तुर्की के सुल्तान ने ऐसे कोई कार्य नही किये थे जिससे उसके अधिकांश इस्लामी जगत् के नेता होने की बात स्पष्ट हो सके। उसने अफगानिस्तान, मिश्र, मोरक्को, ट्यूनिस, भारत आदि पर ईसाई राज्यो के प्रभाव अथवा प्रभुत्व स्थापना के समय इस्लामी एकता अथवा स्वतन्त्रता की कोई आवाज नही उठाई थी और १९१९ ई० मे भी पश्चिमी एशिया के स्वतन्त्र इस्लामी राज्यो ने तुर्की की सहायता अथवा खिलाफत की समस्या के पक्ष मे कोई प्रबल आन्दोलन नही किया था। १९१४ ई० मे स्वयं मोहम्मद अली ने यह आश्वासन भी दे दिया था कि यदि तुर्की के विरुद्ध युद्ध आरम्भ भी हो गया तब भी भारतीय मुसलमान की अंग्रेजो के प्रति वफादारी अपनी जगह पर स्थित रहेगी और युद्ध आरम्भ हो जाने के पश्चात् यह भक्ति भावना बनी भी रही।[४८] ऐसी परिस्थितियो में अधीन भारत के मुसलमानो का १९१९ ई० मे उस खिलाफत के लिये आन्दोलन करना जिसके साथ घनिष्ट सम्बन्धो का अभाव था, विशेष महत्त्व की घटना थी।

यह महत्व और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है यदि यह ध्यान रखा जाय कि तुर्की अथवा किसी अन्य स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य ने भारतीय मुसलमानों के स्वतन्त्रता संघर्ष के प्रयत्नो मे (१९२०–४७ ई०) प्राय सक्रिय योगदान नही दिया। इससे वे तर्क खोखले दिखाई पड़ते है जिनके आधार पर कुछ भारतीय मुसलमान नेताओ द्वारा एकता और मिल्लत के हितो की दुहाई दी जाती थी। यहाँ तक कि उग्र

---

४६. यह भाषण अब्दुल माजिद दरयाबादी ने अपनी डायरी मे दिया है–भाग १, पृ० १३४-१३५।

४७. सर सैयद अहमद खाँ के अध्याय मे इसका वर्णन किया गया है। मोहम्मद अली ने बाद मे यह भी कहा था कि पिछले ४०० वर्षों से इस्लामी जगत् का नेतृत्व तुर्की खिलाफत ने ही किया था (इफादात, पृ० ६१) लेकिन मुगल सम्राटों ने कभी तुर्की सुल्तान की इस प्रकार की सर्वोच्चता स्वीकार नही की थी। ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर यह तर्क गलत था।

४८. अध्यक्षीय भाषण, पृ० ८१-८६।

क्रान्तिकारी नेताओं (उदाहरणार्थ : उबैदुल्लाखाँ सिन्धी और बरकतुल्ला जैसे क्रान्तिकारियो) के मागने पर भी अफगानिस्तान, ईरान, तुर्की आदि देश इंगलैण्ड के विरुद्ध सक्रिय सहायता प्रदान नही कर सके थे ।

प्रथम विश्वयुद्ध मे अक्टूबर १६१८ ई० मे तुर्की के आत्मसमर्पण कर देने मे भारतीय मुसलमानो की उन आशाओं पर पानी फिर गया जो वे तुर्की की विजय के सम्बन्ध में रखते थे । दिल्ली और लखनऊ मे इसी समय उस व्यवस्था की नीव डाली गई जो बाद मे खिलाफत आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हुई ।[४६] इसका उद्देश्य मुसलमानो की सांसारिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान को बचाना था । इस समय मोहम्मद-अली जेल मे बन्दी थे । जेल से छूटने के पश्चात् उन्होंने अपने भाषणों में तुर्की सुल्तान के प्रति मुसलमानो के धार्मिक उत्तरदायित्व की बात कही थी और इस प्रकार सांसारिक तथा धार्मिक प्रश्न एक–दूसरे में मिल गये थे ।

१६१६–१६२१ ई० के मध्य मोहम्मदअली ने अपने भाषणो मे इस बात पर काफी जोर दिया था कि वे तुर्की के सुल्तान को इस्लामी जगत् का नेता मानते थे और इसलिए उसके राज्य को सुरक्षित छोड़ दिये जाने के पक्ष में थे । उनका तर्क था कि खलीफा के पास "ईमान" की सुरक्षा के लिये पर्याप्त साधन तथा सामर्थ्य होनी चाहिए । १६१६–१६२० ई० मे जो राजनीतिक परिवर्तन स्वायत्तता तथा आत्मनिर्णय के आधार पर गैर तुर्की कौमो को उपलब्ध हुए थे उन सबको तो खिलाफत आन्दोलन के नेता मोहम्मद अली स्वीकार करने को तैयार थे ।[५०] लेकिन उनका कहना था कि अन्य समस्त क्षेत्रों मे तुर्की का सुल्तान १६१४ ई० से पूर्व की स्थिति मे रहना चाहिये । मोहम्मद अली ने तुर्की के सुल्तान (खलीफा) के समर्थन में "मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त" वाली कहावत को सिद्ध कर दिखाया था । उन्होंने पेरिस में कहा था कि "यदि तुर्की के सुल्तान ने स्वयं अथवा उनकी ओर से किसी भी प्रतिनिधि ने सन्धि-पत्र (सेव्र की सन्धि) पर हस्ताक्षर कर दिये तो उन्हें (तुर्की के सुल्तान को) समझ लेना चाहिये कि वे खलीफा नही रह सकते और उन्हे खिलाफत की गद्दी से उतर जाना पड़ेगा ।"[५१] ६ जनवरी, १६२० ई० को दिल्ली मे भाषण देते हुए उन्होने कहा : "हम दोनों भाई तैयार है कि सरकार के छोटे से छोटे नौकर के पैरो में अपना सिर रख दें । इसमे हमारा कुछ अपमान नही है । मगर हम तैयार नही कि इस्लाम के सम्मान को अपमानित होता देखें । हम अपने घरो को छोड़ सकते हैं मगर खुदा के घर को दूसरो के अधिकार मे देखने को तैयार नही हैं ।"[५२] १० जनवरी, १६२० को उन्होंने फिर कहा -

४६. इफादात-ए-मोहम्मदअली, पृ० ६१ ।

५० २० अप्रैल, १६२० ई० को पेरिस मे दिया गया भाषण : तकारीर, भाग १, पृ० २४ ।

५१. यह भाषण पेरिस मे फ्रांस की हिमायत-ए-इस्लाम सस्था के तत्वाधान मे दिया गया था । तकारीर, भाग १, पृ० ३३ ।

५२ वही, पृ० ११ ।

"अब मुसलमान राजनीतिक विषयों को गौण और खिलाफत को मुख्य समझने लगे हैं। इबादत का अर्थ खुदा की दोस्ती है……मुसलमानों, यदि तुमने खिलाफत को खो दिया तो अपने पैदा होने के उद्देश्य को ही समाप्त कर दिया…… मुसलमानों में कोई भी ऐसा निर्णय स्वीकृत नहीं हो सकता जो कुरान की आज्ञाओं से बाल बराबर भी कम हो।"[५३]

यूरोप में खिलाफत मण्डल के नेता के रूप में २० अप्रैल, १९२० को पेरिस में भाषण देते हुए उन्होंने कहा: "अरब प्रायद्वीप में केवल इस्लामी राज्य हो और उस पर कोई उच्च अधिकारी अथवा निरीक्षक न हो और खलीफा पवित्र स्थानों का स्वामी बना रहे। हम जो भारत से आए हैं, जानते हैं कि अल्पसंख्यक समुदाय के लिए अपने अधिकारों की सुरक्षा करना किस प्रकार सम्भव है क्योंकि हम स्वयं एक ऐसे ही समुदाय के सदस्य हैं। अपने अधिकारों की सुरक्षा कर लेने के पश्चात् हमने भारत की स्वतन्त्रता के लिये अपने देश-प्रेमियों के साथ-साथ प्रयत्न कर रखे हैं और आज हिन्दू, मुसलमान, पारसी सबके सब इस समस्या में सम्मिलित हैं जो केवल एक धार्मिक समस्या है अर्थात् खिलाफत की समस्या।"[५४]

प्रारम्भ में भारत के लिए स्वराज्य प्राप्ति खिलाफत आन्दोलन का भाग नहीं था। बाद में इसे जोड़ लिया गया था क्योंकि इससे खिलाफत आन्दोलन के लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता मिलती थी।[५५] मोहम्मद अली ने भारत में भी अपने भाषणों में यह बात स्पष्ट कर दी थी कि वे भारत स्वतन्त्रता संग्राम के राष्ट्रीय आन्दोलन में क्यों सम्मिलित हुए थे। २० अक्टूबर, १९२० ई० को अमृतसर में बोलते हुए उन्होंने कहा: "मैं अपने मुसलमान भाइयों से कहता हूँ कि यदि तुम्हारे दिल में केवल इस्लाम के प्रति प्रेम है, और तुम देश प्रेम से खाली हो, और अपने पड़ौसी भाईयों से किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं रखते, अगर तुम्हें भारत से कुछ सम्बन्ध नहीं केवल अरब का राज्य और पवित्र स्थानों को काफिरों से वापस लेना है, तो पहले भारत को स्वराज्य दिला दो"[५६]

१९२३ ई० में कांग्रेस अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने बताया कि किस प्रकार उनकी अंग्रेजी सरकार पर विश्वास करने की नीति को ठेस पहुँची। पश्चिमी देशों के मुसलमान राज्यों पर आक्रमण करने (ट्रिपोली तथा बल्कान युद्ध) से वर्तमान स्थिति में एक नया तत्त्व सम्मिलित हो गया। भारतीय मुसलमानों की भावनाओं पर इसका यह प्रभाव हुआ कि उनका ध्यान आन्तरिक विषयों से अधिक विदेशी विषयों पर केन्द्रित हो गया। विदेशी राज्यों में जब मुसलमानों के परम्परागत

---

५३. तकारीर, भाग १, पृ० १४-१५।
५४ वही, पृ० २४।
५५. वही, पृ० ४३।
५६ निगारिशात-ए-मोहम्मदअली, पृ० २३८।

विश्वासों पर चोट पड़ी तब वे भारतीय एकता की ओर उन्मुख हो गये।"[५७] इसने मुसलमानों को "यह सोचने पर मजबूर किया कि वे बहुत कम त्याग करके अपनी पड़ोसी बिरादरी से मैत्री सम्बन्ध, अपनी खोई हुई मोहब्बत और हमदर्दी प्राप्त कर सकते हैं।"[५८] मौलाना १६२६ ई० में हज से लौटकर भारत आए थे। उस समय कराची में उन्होंने कहा कि भारत की स्वतन्त्रता के बिना इस्लाम की प्रगति असम्भव थी।[५६] १६२०-२१ में खिलाफत आन्दोलन के नेता असहयोग आन्दोलन के समर्थक थे। किन्तु १६२३ के राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना मोहम्मद अली १६२७-२८ तक केवल मुसलमानों के समर्थक कैसे बन गये? इस प्रश्न का साधारण उत्तर उन भाषणों में है जिनमें उन्होंने खिलाफत के स्वरूप की व्याख्या की थी तथा हिन्दुओं के साथ सहयोग और अंग्रेजों के साथ असहयोग की नीति का समर्थन किया था।

"यदि खिलाफत आन्दोलन का उद्देश्य तुर्की सुल्तान और उसके खलीफा होने से ही सम्बन्धित था तब १६२३-२४ ई० के पश्चात् यह आन्दोलन समाप्त हो जाना चाहिये था क्योंकि तुर्की ने लोसान की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये थे और तुर्की में सुल्तान को गद्दी से हटा दिया गया था तथा खिलाफत को सदा के लिये समाप्त कर दिया गया था। मोहम्मद अली का ऐसा न करना अर्थपूर्ण था। १६२४ ई० में मिश्र की समस्या पर भारतीय मुसलमानों का ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने लिखा था:

"यहाँ से कुछ हजार मील की दूरी पर एक देश है जिससे न हमारे व्यापारिक सम्बन्ध हैं न राजनीतिक सम्बन्ध। वहाँ एक घटना होती है। तुम इसे बिल्कुल भूल जाओ कि उनके समाचार पत्रों में तुम्हारा भी कोई वर्णन होता है या नहीं, उनको तुम्हारी स्थिति में कोई रुचि भी है या नहीं ......किन्तु तुम्हें याद रखना चाहिये कि वे भी अल्लाह पर ईमान रखने वाले हैं, हमारे भाई है, हमारे उनसे इसी भाँति सम्बन्ध हैं जैसे हमें अपने देश के मुसलमान भाईयों से ......मिश्री हमसे सम्बन्ध न रखते हों, सूडानियों को भी कोई मतलब न हो, लेकिन हमें उनसे सम्बन्ध और मतलब है"[६०] इस सम्बन्ध में न तो भारतीय मुसलमानों की सांसारिक प्रतिष्ठा का प्रश्न था न धार्मिक सम्मान का। यह केवल एक पक्षीय समर्थन एव सहानुभूति थी। १६२५ ई० में भी खिलाफत समिति द्वारा तुर्की की सहायता की जाती थी। उस समय मोहम्मद अली का कहना था कि तुर्की वालों ने "खिलाफत को टोपी अपने गले (सिर) से उतार

५७. अध्यक्षीय भाषण, पृ० ६३।

५८ वही, पृ० ७६।

५६. हमदर्द, २ सितम्बर, १६२६: मकालात-ए-मोहम्मदअली, भाग १, पृ० ३१६।

६०. मकालात, भाग १, पृ० २१-२२।

पर एक की सैनिक शक्ति का सुख है कि इस्लाम का झण्डा उनके हाथों में है।"[६१] मोहम्मद अली के खिलाफत आन्दोलन के आन्तरिक कारणों का ज्ञान उन भाषणों तथा लेखों में भी उपलब्ध होता है जो १९२४ ई० में तुर्की में खिलाफत के समाप्त कर दिये जाने के पश्चात् उन्होंने खिलाफत संगठन को प्रचलित रखने के लिए दिये थे। खिलाफत आन्दोलन १९२२ ई० के पश्चात् एक जन आन्दोलन नहीं रह गया था लेकिन मोहम्मद अली इस आन्दोलन के लिये प्रयत्नशील रहे। मोहम्मद अली का कहना था कि तुर्की वालों को खिलाफत के समाप्त करने का कोई अधिकार नहीं था और यदि उन्होंने खिलाफत समाप्त भी कर दी तो हमें खिलाफत के लिये आन्दोलन प्रचलित रखना चाहिए और उन्होंने मरते समय तक उसे समाप्त नहीं होने दिया।

मई १९२५ ई० में उन्होंने लिखा था कि "इस्लाम के जीवित रहने की एक ही स्थिति है और वह यह है कि इस्लाम का सम्बन्ध समस्त विश्व से स्थिर हो।[६२] यदि दिल्ली के मुसलमानों को लखनऊ के मुसलमानों से कोई सम्बन्ध नहीं, यदि भारत के मुसलमानों को तुर्की के मुसलमानों से सम्बन्ध नहीं, यदि चीन के मुसलमानों को मराक्को के मुसलमानों से सम्बन्ध नहीं, तो फिर हम सब मुर्दे और टुकड़े हैं। आज मरे कल दूसरा दिन न मुसलमान रहेंगे न इस्लाम रहेगा।"[६२ए]

उसी समय से उन्होंने यह भी कहा "आवश्यकता इस बात की है कि इस्लाम की पुरानी व्यवस्था १३०० वर्षों के पश्चात् नये सिरे से मोहल्ले की मस्जिदों से आरम्भ की जाये......गाँव, नगर, जिला, प्रान्त, देश और समस्त विश्व में आरम्भ से लेकर अन्त तक केवल एक ही व्यवस्था-स्थापित हो। यह व्यवस्था खिलाफत व्यवस्था है, और इसकी पूर्ति अब खिलाफत कमेटी का कार्य......"[६३] खिलाफत समिति ने १९२५ ई० में अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करके भारत में मुसलमानों के समस्त भीतरी क्षेत्र के कार्यों का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया था। उसका लक्ष्य धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में मुसलमानों की भलाई के लिये प्रयत्न करना था। उनके अनुसार तुर्की खिलाफत समाप्त हो जाने के पश्चात् भारत में एक 'जमियत खिलाफत' की स्थापना और अधिक आवश्यक हो गई थी क्योंकि उस खिलाफत समिति को भारत के मुसलमानों की सेवा करनी थी।[६४] उन्होंने मुसलमानों को खिलाफत संगठन के अधीन रहकर कार्य करने को कहा। इसी संगठन से मुसलमानों में धार्मिक प्रबन्ध स्थापित रखे जाने की तथा नया जीवन प्रदान करने की सम्भावना थी। इसी के माध्यम से शक्ति प्राप्त की जा सकती थी तथा इस्लामी जगत् को विश्व

---

६१. मकालात, भाग १, पृ० २८१। यह वाक्य एक सभा में बोलते हुए कहे थे जब उनसे पूछा गया था कि खिलाफत समिति द्वारा तुर्की को सहायता क्यों दी जाती थी जबकि खलीफा का पद तुर्की ने समाप्त कर दिया था।

६२ मकालात-ए-मोहम्मदअली, भाग १, पृ० ६२ (हमदर्द, १३-१६ मई १९२५)।

६२ए. मकालात, भाग १, पृ० ५१।

६३ इफादात-ए-मोहम्मदअली, पृ० २५-२७।

६४. इफादात, पृ० ११८।

मे शक्तिशाली बनाया जा सकता था।[६४] १९२६ ई० मे मक्का-मदीना से लौटकर उन्होंने भारत के मुसलमानो को एक बार फिर खिलाफत आन्दोलन की भाँति संगठित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि ऐसी ही व्यवस्था हेजाज इस्लामी सम्मेलन में हुई थी।[६६]

भारत के मुसलमान अल्पसंख्यक थे। उनकी इस हीन मनोवृत्ति को दूर करने का एक उपाय यह था कि उनका सम्बन्ध अन्य इस्लामी राज्यों के साथ जोड़ दिया जाय।[६७] मुसलमानो को अल्पसंख्यक होने से बचाने के लिये उन्हें समस्त इस्लामी जगत् से जोड़कर उन्हें ३० करोड़ जनसंख्या का एक अभिन्न भाग बताया गया था। इसी आधार पर उन्होंने आगे चलकर कहा था कि विश्व में ३०-४० करोड़ जनसंख्या वाली कौम अल्पसंख्यक नही कही जा सकती थी।[६८] इस सम्बन्ध को व्यक्त करके उनका लक्ष्य इंगलैण्ड सरकार पर दबाव डालना था जिससे भारत के मुसलमानो के उचित अधिकारों की सुरक्षा हो सके।[६९] उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके बड़े भाई शौकत अली ने कहा था, "भारत के मुसलमानों के लाभ के लिये भारत के अन्दर और बाहर मोहम्मद अली के प्रयत्न ऐसे थे जिनका परिणाम आज मिल रहा है।"[७०]

खिलाफत आन्दोलन को सचालित करने का एक अन्य कारण यह भी था कि मोहम्मद अली मुसलमानों में राजनीतिक जागरण पैदा करना चाहते थे। १९२३ ई० मे कांग्रेस अध्यक्षीय भाषण मे उन्होंने कहा था कि १९११-२३ ई० के मध्य मुसलमानों ने भारत के बाहर मुस्लिम देशों की समस्याओं पर सोचना तथा विचार करना प्रारम्भ तो किया इससे कम से कम यह लाभ तो अवश्य हुआ कि मुसलमान राजनीति पर सोचने लगे थे।[७१] राजनीति के विषय मे जागरूक करने के अतिरिक्त खिलाफत समिति का यह कार्य भी था कि मुसलमानों का पृथक् अस्तित्व स्थापित हो सके। इस पृथक् अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये १९२०-१९२१ ई०

---

६५. मकालात, भाग १, पृ० ११४।

६६. मोहम्मदअली अलीगढ़ और आक्सफोर्ड के पढ़े हुए थे। वे इस्लामी फिकाह के विद्वान न थे। बन्दी रहने की अवधि मे उन्होने इस्लामी विधि तथा धर्म का अध्ययन किया था। इसी के फलस्वरूप मौलाना अब्दुल बारी फरंगीमहल ने उन्हे मौलाना की उपाधि प्रदान की थी (हयात-ए-जौहर, पृ० १४३)।

६७ हयात-ए-जौहर, पृ० १४२।

६८. निगारिशात-ए-मोहम्मदअली, पृ० २६०।

६९ यह परिणाम तुरन्त ही दिखाई पड़ा जबकि भारत सचिव मोनटेग्यू ने भारत के मुसलमानो की माँगो के समर्थन में भारत सरकार को एक तार भेजा था इसी तार के कारण बाद मे उन्हें त्यागपत्र भी देना पड़ा था। हयात, पृ० १४२; अध्यक्षीय भाषण, पृ० १२८।

७०. मकालात, भाग १, पृ० २८२ : शौकत अली द्वारा लिखित निबन्ध "अरज-ए-हाल"।

७१. अध्यक्षीय भाषण, पृ० ६४।

मे भी जबकि खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के कारण हिन्दू मुस्लिम सद्भावना सबसे अधिक थी मोहम्मद अली ने इस बात से बड़ा गर्व अनुभव किया कि "हमारे ही प्रयत्नों से बहुत से स्थानों पर मुसलमान कांग्रेस मे सम्मिलित होने से रोके जा सके।" १९२९ ई० में भी उन्होंने मुसलमानों से अनुरोध किया था कि वे खिलाफत समिति मे ५ लाख सदस्य तथा ५० हजार रजाकार (स्वयं सेवक) और बनायें। इस प्रकार उनके संगठित हो जाने से दूसरे लोग भी उनके पृथक् अस्तित्व को स्वीकार कर लेंगे और उनके अधिकारों का सम्मान करेंगे। बिना इस प्रकार के पृथक् संगठन के उनकी स्थिति केवल अधीन लोगों जैसी ही रह जायगी।[72]

नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत कर देने के पश्चात् खिलाफत समिति का कार्य था कि वह "जीवन के प्रत्येक भाग में सुधार करे। मुसलमानों का नये सिरे से संगठन करे और सबसे बढ़कर यह कि उनमें एकता और आत्म-विश्वास पैदा करे" खिलाफत समिति चाहती थी कि मुसलमान अपने पैरों पर खड़े रहे हों तथा उसका उद्देश्य था कि "जिस प्रकार खिलाफत समिति मुसलमान कौम को इंगलैण्ड की दासता मे रहने से मना करती है ठीक उसी प्रकार वह अपनी कौम को दूसरे सम्प्रदाय का दास बन जाने से भी रोकती है। यह स्वतन्त्रता की भूखी है किन्तु स्वामियों का परिवर्तन नहीं चाहती है।"[73]

मोहम्मद अली का हिन्दुओं के प्रति दृष्टिकोण :

मोहम्मद अली द्वारा हिन्दू मुस्लिम एकता का समर्थन उन अवसरों पर किया गया था जहाँ उन्हें मुसलमानों के हितों के लिये हिन्दुओं के समर्थन से कुछ लाभ पहुँचने की आशा थी अथवा अंग्रेजों पर अधिक दबाव डाला जा सकता था। १९२० ई० में पेरिस मे भाषण देते समय उन्होंने खिलाफत के पक्ष मे तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा :

"हम यहाँ तुर्की का प्रतिनिधित्व करने नहीं आए हैं। हम केवल अपने और अपने देश अर्थात् भारत के प्रतिनिधि हैं। आज हिन्दू, मुसलमान, पारसी सबके सब इस समस्या मे सम्मिलित है जो केवल एक धार्मिक समस्या है। मैं तीस करोड़ लोगों की ओर से आपसे कहता हूँ कि ये लोग इस सन्धि (सेव्र की सन्धि) को स्वीकार नहीं करेंगे।"[74] उन्होंने आगे बताया कि अपने अधिकारों की सुरक्षा कर लेने के बाद भारत की स्वतन्त्रता के लिये भी मुसलमान प्रयत्नशील थे।[75] यूरोप से लौटने के पश्चात् बम्बई मे अक्टूबर १९२० मे उन्होंने कहा था "वर्तमान स्थिति पर दृष्टि डालकर मैं इस स्पष्ट परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इस्लाम की स्वतन्त्रता के

---

७२. निगारिशात, पृ० २७१।

७३. वही, पृ० २७०।

७४. तकारीर, पृ० २१।

७५. वही, पृ० २४-२५।

लिये भारत की स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है। अधीन भारत की दास जनता को दूसरी कौमों की स्वतन्त्रता समाप्त करने अथवा दास बनाने के लिये प्रयोग किया जाता है। इसलिए मैं भारत के मुसलमानों को यह सूचना देना चाहता हूँ कि यदि वे इस्लाम को स्वतन्त्रता दिलाना चाहते हैं तो उन्हें अपने हिन्दू भाइयों के साथ मिल जाना चाहिए।"[७६] इस प्रकार मोहम्मद अली ने इस्लाम की स्वतन्त्रता के लिये भारत में हिन्दुओं का सहयोग आवश्यक समझा था। इसमें यह बात निहित थी कि यदि उस लक्ष्य (इस्लाम की स्वतन्त्रता) के लिये कभी हिन्दुओं का विरोध भी आवश्यक हुआ तो किया जायेगा। १९२७-३० ई० की अवधि के उनके विभिन्न लेखों तथा भाषणों में इसके पर्याप्त उदाहरण तथा प्रमाण मिलते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता का वर्णन विवशता और विकल्प विहीनता की स्थिति में भी किया जाता था। अपने १९२७ ई० के एक लेख में उन्होंने कहा था "बोअर और इंगलैण्ड में आपसी मेल सरल था। खेद है कि आज हिन्दू और मुसलमान में मेल देखने में अधिक कठिन दिखाई पड़ता है।[७७] आगे चलकर उन्होंने लिखा था—

"सात करोड़ मुसलमानों के पूर्वजों को शताब्दियों तक प्रभुत्व और अधिकार उपलब्ध रहा....... यदि वे २२ करोड़ हिन्दुओं का नाश भी कर सकते थे तो अपनी प्रधानता के समय में कर सकते होंगे। आज तो उनके बस की यह बात नहीं। फिर जब दोनों को इसी देश में रहना है तो क्या यह अधिक अच्छा होगा कि दोनों एक-दूसरे से लड़ते रहें और तीसरे की दासता करें।"[७८]

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सरकार पर निर्भरता तथा उसके साथ सहयोग मौलाना को असम्भव प्रतीत होता था, क्योंकि इस नीति के कड़वे परिणाम बल्कान और ट्रिपोली युद्ध तथा बंगाल विभाजन की समाप्ति हुए थे। इस नीति को छोड़कर एक विकल्प अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करना था किन्तु यह अत्यन्त खतरनाक प्रतीत हुआ और छोड़ दिया गया। गांधीजी असहयोग आन्दोलन समाप्त कर चुके थे। इसलिए मोहम्मद अली बड़े असमंजस में थे। १९२३ ई० में असहयोग की नीति त्याग करके अंग्रेज सरकार पर निर्भर रहने का विकल्प उन्हें अपनी दो वर्ष पूर्व की नीति का अत्यन्त लज्जाजनक विरोध दिखाई पड़ा। लौसानकी सन्धि हो चुकी थी। इस पर भी यह सम्भव था कि वे असहयोग की नीति शायद छोड़ देते लेकिन उन्हें यह लगा कि यह अत्यन्त हास्यास्पद होगा कि भारत के मुसलमान एक ओर तो

---

७६. तकारीर, पृ० ४०, मोहम्मदअली ने १९२३ ई० में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि युद्ध के समय में उन्हें इस बात से अत्यधिक कष्ट हुआ था कि भारत के मुसलमानों को यूरोप में तुर्की के मुसलमानों के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा गया था और इसीलिये उसने सरकार से असहयोग की नीति अपनाई थी (अध्यक्षीय भाषण, पृ० १०८-११०)।

७७. साइमन कमीशन पर लेख, हमदर्द, पृ० १३०।

७८. वही, पृ० १३१।

तुर्कों और अरबों की स्वतन्त्रता के इतने अधिक समर्थक थे और दूसरी ओर अपनी स्वतन्त्रता के लिये इतने अप्रयत्नशील।[७९] इसलिए विवशता और विकल्प अभाव में गैर मुसलमानों के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई थी।[८०] हिन्दुओं के प्रति मोहम्मद अली ने अपनी भावनाओं को उस समय व्यक्त किया था जब उन्हें हिन्दुओं के राजनीतिक सहयोग की आवश्यकता नहीं रह गई थी।

अपने सम्प्रदाय के हितों की सुरक्षा तथा उन्हें प्राप्त करने के लिये संघर्ष संचालन की नीति के प्रतिपादन में मोहम्मद अली एक दक्ष कूटनीतिज्ञ थे। उन्होंने लिखा था "तुम एक ही समय में समस्त विश्व से नहीं लड़ सकते। सब शत्रुओं में से एक को छांट लो······· जो तुम्हारे शत्रुओं में सबसे अधिक शक्तिशाली हो जो तुम्हें अधिक से अधिक डराये हुए हो और यदि हो सके तो उसके विरुद्ध दूसरों को अपना मित्र बनाओ···· यदि एक भी तुम्हारी योजना से प्रभावित होकर तुम्हारा मित्र न बन सके तब भी युद्ध के प्रत्येक मोर्चे पर समान शक्ति न लगाओ। उस मोर्चे पर जहां युद्ध का निर्णय होने वाला है पूरी शक्ति लगा दो, दूसरे स्थानों पर धैर्य से थाम लो। जब युद्ध के सबसे बड़े मोर्चे पर विजय प्राप्त हो जाए तो दूसरे मोर्चों पर स्वतः ही विजय प्राप्त हो जाएगी। उस समय प्रत्येक शत्रु से दिल खोलकर बदला ले लेना·······यह (शक्तिशाली) शत्रु हिन्दू नहीं है। इस बेचारे की दौड़-धूप तो समुद्र के किनारे तक है। जो संसार काले पानी के उस ओर है उससे इसे क्या सम्बन्ध। यह तो गूलर का भुनगा है जिसका समस्त संसार इसी गूलर में सीमित है। सच कहो क्या तुम उससे डरे हुए हो।"

"रेल के किसी डिब्बे में ६–७ हिन्दू हों और उसमें तुम भी जाकर बैठ जाओ तो क्या तुम्हें उनसे डर लगेगा। बहुधा तो उन्हीं को तुमसे डर लगता है···· यदि आज हिन्दू तुम पर अन्याय करते हैं·······तो यह भी इसलिए कि सरकार तुम्हारी और तुम्हारे अधिकारों की सुरक्षा में कम प्रयत्नशील है·······यदि अंग्रेज बीच में न कूद पड़ें तो तुम अब भी इनसे भुगत ले सकते हो·······एक स्थान पर भी तो आज दिन तक दिन भर लड़ाई न होने पाई।[८१] फरवरी १९२७ ई० में उन्होंने हिन्दू बहुसंख्यकों की तुलना एक टिड्डी दल से की थी। इतना ही नहीं बल्कि इतिहास से विभिन्न उदाहरण भी व्यंगपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किये जाते थे। हिन्दुओं को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा कि जबतक तुम मुसलमानों का सहयोग प्राप्त न कर लोगे उस समय तक भारत को स्वतन्त्र न करा सकोगे। मुसलमानों को अधीन करने का अवसर मोहम्मद बिनकासिम से लेकर अहमदशाह अब्दाली तक उपलब्ध

७९, अध्यक्षीय भाषण, पृ० १३६।

८०, वही, पृ० १३७।

८१. हमदर्द, २१ अगस्त, १९२७ : मजामीन, भाग २, पृ० ४६४-४६६। मकाईबात-ए-मोहम्मदअली, पृ० ८८-९०।

मोहम्मद अली और मुसलमानों के राजनीतिक हित :

मोहम्मद अली की मुसलमानों के हितों की कल्पना अत्यन्त विस्तृत थी। यह कल्पना भारत में निर्वाचन प्रणाली और उचित प्रतिनिधित्व से लगाकर सारे इस्लामी जगत् के हितों तक फैली हुई थी। उन्होंने खिलाफत आन्दोलन के समय दो घेरों के सिद्धान्त को मुसलमानों के हितों का सूचक बनाया था। इन दोनों घेरों के केन्द्र बिन्दु अलग-अलग थे। एक घेरा इस्लाम का था और दूसरा हिन्दुस्तान का था। इस दोहरेपन का इच्छानुसार प्रयोग किया जा सकता था। इस दोहरेपन का अर्थ स्पष्ट करते हुए मोहम्मद अली ने लिखा था कि भारतीय मुसलमान खिलाफत संगठन में पूरी तरह सहयोग दें। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया और केवल हिन्दुओं से नौकरियों और मेम्बरियों के लिए लड़ने तक सीमित रह गए तो वे केवल कौम के मुसलमान रह जायेंगे, धर्म के मुसलमान न रहेंगे।[८७] दूसरे शब्दों में "कौम" के मुसलमान होने से उनका हिन्दुओं से लड़ते झगड़ते रहना उचित था तथा धर्म के मुसलमान होने से उन्हें खिलाफत तथा अन्य कार्यों के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिए था।

मोहम्मद अली द्वारा प्रतिपादित मुसलमानों का यह दोहरा उत्तरदायित्व स्मरणीय है। इस दोहरे उत्तरदायित्व के कारण वे किसी भी वर्ग में स्थिर नहीं रह सके। उनकी खिलाफत की कल्पना सामान्य मुसलमान से भिन्न थी, इसलिए १९२४ ई० के पश्चात् वे प्राय अकेले पड़ गए। १९२५ ई० से १९३० ई० तक विभिन्न मुस्लिम संगठनों से उनका संघर्ष होता रहा। मुस्लिम लीग संस्थापकों में तथा १९१७ ई० में मुस्लिम लीग के अध्यक्ष होने के बाद भी वे मुस्लिम लीग का विरोध करते रहे।

उनकी मुस्लिम हितों की कल्पना में एक तत्व और जुड़ा हुआ था। यह तत्व था यह विचार कि सात करोड़ मुसलमानों के पूर्वजों को सदियों तक भारत में प्रभुत्व और अधिकार उपलब्ध रहा था।[८८] १९२९ ई० के प्रारम्भ में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि मुसलमान केवल उन लोगों के साथ अपने भाग्य को जुड़ा हुआ समझ सकते थे जो देश के प्रबन्ध में मुसलमानों को स्वतन्त्र तथा बराबर के साझीदार स्वीकार करते हों। मरने से चार दिन पूर्व उन्होंने लिखा था कि "भारत में मुसलमानों के प्रश्न को अल्पसंख्यकों का प्रश्न कहना भी गलत है[८९] क्योंकि मुसलमान भारत पर आठवीं सदी के प्रारम्भ से १९वीं सदी के मध्य तक किसी न किसी रूप

---

८७. मकालात, भाग १, पृ० ४४।

८८ इफादात-ए-मोहम्मदअली, पृ० १३१ (हमदर्द, १४-१५ नवम्बर, १९२७) मोहम्मदअली ने साइमन कमीशन पर एक निबन्ध लिखा था।

८९ मोहम्मदअली ने १९२० ई० में मुसलमानों को अल्पसंख्यक कहा था और अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिये बहुसंख्यकों के साथ समझौते की बात कही थी अब वह बात बदल चुकी थी।

में और किसी न किसी भाग में राज्य करते रहे। इतने लम्बे समय तक किसी अन्य कौम ने भारत में राज्य नहीं किया।" मुसलमानों के हितों की वास्तविक समस्या यह थी कि वे लोग जो हजार वर्षों से समस्त हिन्दुओं के भाग्य का फैसला अपने हाथ में रख चुके थे अब नहीं चाहते थे कि कोई अन्य बहुमत (हिन्दू अथवा हिन्दुस्तानी) ऐसा हो जिसको वे उसी प्रकार अपने नियन्त्रण के अधीन न रख सकें जैसाकि हजारों वर्षों तक रख चुके है।"[६०] मोहम्मद अली का यह भी तर्क था कि मुसलमानों का भारत पर इतने लम्बे समय तक नियन्त्रण रहा कि हिन्दुओं और अन्य कौमों के दिलों में मुसलमानों से प्रतिशोध लेने की भावना विद्यमान रही। इस प्रतिशोध की भावना के विरुद्ध मुसलमानों को सुरक्षा व्यवस्था करनी आवश्यक थी।[६१]

वास्तविक समस्या जिसका वे हल सोचना चाहते थे यह नहीं थी कि मुसलमान सदस्यों एवं प्रतिनिधियों को कौन निर्वाचित करे—केवल मुसलमान अथवा हिन्दू मुसलमान सम्मिलित रूप से। बल्कि वास्तविक समस्या यह थी कि "जिस देश में मुसलमान अल्पसंख्यक हों और हिन्दू बहुसंख्यक और दोनों सम्प्रदायों (मिल्लतों) की मनोवृत्ति ऐसी हो कि एक सम्प्रदाय दूसरे को अपना शत्रु समझे और हिन्दू बहुमत की न्यायप्रियता और सहनशीलता पर मुसलमान अल्पसंख्यकों को लेशमात्र भी भरोसा न हो, किन्तु निर्णय प्रत्येक विषय में बहुमत के अनुसार ही किया जाए तब मुस्लिम अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा किस प्रकार हो सकती है।"[६२]

मुसलमानों को ऐसी योजना बनानी चाहिये कि वे अपने-आपको न तो हिन्दू बहुसंख्यकों की कृपा पर छोड़ें और न अंग्रेजी सरकारी कर्मचारियों और उनके मनोनीत प्रतिनिधियों की घटती हुई अल्पसंख्या की कृपा पर।[६३] अंग्रेजों पर निर्भर रहने की नीति इसलिए छोड़ देनी पड़ी कि ये दोनों अल्पसंख्यक मिलकर भी हिन्दू बहुमत को हरा नहीं सकेंगे तथा अंग्रेज मनोनीत सदस्यों की संख्या निरन्तर घटती जाएगी। दूसरे इस निर्भरता का अंग्रेज लोग भारी मूल्य मांगते थे। यह मूल्य था अंग्रेज नीति का प्रत्येक अवसर पर समर्थन।[६४]

---

६० निगारिस्तान, पृ० २९१ २९२।

६१, निगारिस्तान, पृ० २८६, मोहम्मदअली का अन्तिम परामर्श।

६२ मुस्लिम अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के तीन चरण : हमदर्द, १८ अप्रैल, १९२७। मजामीन मोहम्मदअली, भाग २, पृ० १३७-१३८।

६३. मजामीन, भाग २, पृ० १५२-१५६। मोहम्मदअली जिस समय हिन्दुओं पर उपरोक्त आक्षेप लगा रहे थे उसी समय वह यह भी कहते थे कि अंग्रेज सरकार के समर्थक मुसलमान उनको हिन्दुओं की पूजा करने वाला कहते थे।

६४ मजामीन, भाग २, पृ० १६२-१६३।

१९२३ ई० में कांग्रेस मंच से भाषण करते हुए उन्होंने अपने-आपको साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति के विरुद्ध और क्षेत्रीय आधार पर सम्मिलित निर्वाचन प्रणाली के पक्ष में घोषित किया था।[६५] लेकिन १९२६ ई० में उन्होंने यह कहा कि यदि साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली न होती तो आज कोई मुसलमान किसी ऐसे क्षेत्र से चुना ही नहीं जा सकता था जहाँ पर ५०% से अधिक मुस्लिम मतदाता न होते।

२०, मार्च १९२७ ई० को दिल्ली में विभिन्न मुसलमान नेताओं का एक सम्मेलन हुआ जिसमें ३५ व्यक्ति उपस्थित थे। पारस्परिक विचारविमर्श से मुसलमानों के हितों की सुरक्षा की एक योजना तैयार की गई थी। इस योजना के तीन मुख्य अंग थे।

(१) प्रत्येक सम्प्रदाय को धार्मिक स्वतन्त्रता उपलब्ध हो।

(२) कोई भी नियम एक सम्प्रदाय के बहुमत से पास न किया जाय। प्रत्येक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय को यह अधिकार होना चाहिये कि यदि वह नियम उसके हितों के विरुद्ध हो तो वह नियम स्थगित कर दिया जाए।

(३) यदि हिन्दू यह चाहते थे कि मुस्लिम अल्पसंख्यक कुछ बड़े प्रान्तों में उनके बहुमत पर छोड़ दिये जायें तो उन्हें इस बात पर सहमत हो जाना चाहिये कि बंगाल और पंजाब में भी उनकी बड़ी अल्पसंख्या और सिन्ध, (मुसलमानों ने सिन्ध को बम्बई प्रान्त से प्रथक् करने की माँग प्रस्तुत की थी) बलूचिस्तान और उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त में उनकी छोटी अल्पसंख्या मुस्लिम बहुमत की कृपा पर छोड़ दी जाय। अगर वे हमारे साथ उचित अथवा अनुचित व्यवहार करेंगे तो उन्हें 'जैसे को तैसा' के आधार पर सदा उत्तर मिलता रहेगा।[६६]

इस स्थिति में मुसलमानों की अल्पसंख्या के लिये केवल वे ही अधिकार पर्याप्त होंगे जो हिन्दू अपने अल्पसंख्यकों के लिये चाहते थे। यदि हिन्दू बहुमत वाले प्रान्तों में मुसलमान अल्पसंख्यकों पर अत्याचार किये गये तो मुसलमान भी पाँच प्रान्तों में हिन्दू अल्पसंख्यकों द्वारा उसे दूर करवा सकेंगे।[६७]

मुसलमानों के हितों की ऐसी योजना बना लेने के पश्चात् यह स्वाभाविक ही था कि मोहम्मदअली को १९१६ का लखनऊ समझौता बिल्कुल फीका दिखाई पड़ता। उन्होंने लखनऊ समझौते की तीव्र आलोचना आरम्भ की। मार्च १९२७ ई० के पश्चात् मोहम्मदअली इस दिल्ली योजना के न्यायोचित होने का अत्यधिक

---

६५ अध्यक्षीय भाषण, पृ० १२८-१२९।

६६ मजामीन, भाग २, पृ० १५४-१५६।

६७ निगारिशात-ए-मोहम्मदअली, पृ० २६८।

प्रचार करने लगे। उनके अनुसार अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा का सबसे अच्छा उपाय यही था कि एक ही सम्प्रदाय प्रत्येक स्थान पर अल्पसंख्यक न रहे, कहीं एक सम्प्रदाय अल्पसंख्या में हो और कहीं दूसरा।[९८] अप्रैल १९२८ ई० में उन्होंने अपना सन्देश (पैगाम) यह सुनाया कि भारत अब एक कदम भी अधिक प्रगति नहीं कर सकता जबतक कि दिल्ली प्रस्ताव स्वीकार न कर लिया जाए और उन्हीं के अनुसार भारत का संविधान न बनाया जाये। अखिल दलीय सम्मेलन में भी मुसलमानों के विरोध का सार यह था कि उपरोक्त प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर नया संविधान नहीं बन सकता था।

इसी समस्या को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि उन प्रान्तों में जहाँ मुसलमान थोड़े भी बहुसंख्यक हैं उनको पूरे अधिकार दिये जाएँ और जहाँ वे अल्पसंख्यक हैं उनके अधिकारों को सुरक्षित रखा जाए। उनके अनुसार सिक्खों ने अपने पूर्वकालीन शासनकाल में पंजाब में इतनी अधिक भूमि पर अधिकार कर लिया था कि उन्हें किसी अधिक सुरक्षा की आवश्यकता नहीं थी। बंगाल अथवा पंजाब में अल्पसंख्यक हिन्दू वर्ग अत्यधिक संगठित और राजनीतिक दृष्टि से बहुत शक्तिशाली, शिक्षित एवं धनी था। उनके लिये अधिक प्रतिनिधित्व का तर्क झूठा और बेकार था।

१९२७ ई० के दिल्ली प्रस्तावों को पारित करने के पश्चात् यह आवश्यक था कि मुसलमानों को सामूहिक रूप से संगठित किया जाए। १९२८ ई० में नेहरू रिपोर्ट ने उन प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया था। इसलिए मोहम्मद अली आपसी मतभेदों को समाप्त करके इस बात के इच्छुक थे कि मुसलमानों का एक कौमी संगठन हो जाए। मार्च १९२९ ई० को उन्होंने जिन्ना से भेंट करके उन्हें इस बात पर सहमत किया कि लीग के दोनों दलों को एकसाथ फिर संगठित कर लिया जाए।[९९] इनकी आपस की फूट के फलस्वरूप मुसलमानों का राजनीतिक मूल्य बहुत गिर चुका था। जिन्ना भी इस समय तक नेहरू रिपोर्ट को मुसलमानों के लिये अपर्याप्त समझने लगे थे। मार्च १९२७ ई० के निर्णय में जिन्ना सम्मिलित नहीं थे।[१००]

मोहम्मद अली ने जिन्ना को यह सुझाव दिया था कि प्रत्येक मुसलमान को मुस्लिम लीग का सदस्य बनने का अधिकार होना चाहिए जिससे मुस्लिम लीग का निर्णय सारी इस्लामी मिल्लत का निर्णय समझा जाए। मुस्लिम लीग के निर्णय केवल एक विशिष्ट दल के निर्णय हुआ करते थे और दूसरा दल उसका घोर विरोधी

---

९८ निगारिशात-ए-मोहम्मदअली, पृ० ३००-३०४।

९९ साइमन कमीशन के प्रति दृष्टिकोण में मतभेद होने के फलस्वरूप मुस्लिम लीग दो दलों में विभाजित हो चुकी थी—एक दल जिन्ना और दूसरा सर मोहम्मद शफी के नेतृत्व में था।

१००. हमदर्द, ३ मार्च, १९२९, (मजामीन भाग २, पृ० २५३)।

रहता था। मुसलमानों की इस फूट के कारण उनका सही प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता था। जिन्ना ने भी मुस्लिम लीग के निर्णय को इस्लामी मिल्लत का निर्णय उस समय तक मानने से इन्कार किया जबतक कि अन्य इस्लामी संगठन भी इसे स्वीकार न कर लें।[१०१]

३०–३१ मार्च, १९२९ ई० को मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन हुआ किन्तु इस अधिवेशन में मुस्लिम लीग की आन्तरिक दलबन्दी अधिक विस्तृत रूप में प्रकट हुई। और व्यावहारिक रूप में मुस्लिम लीग का महत्व कुछ वर्षों के लिये समाप्त हो गया।[१०२]

मोहम्मदअली और मिल्लत :

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रीय कांग्रेस इस बात का प्रयत्न कर रही थी कि भारत में कौम की वह कल्पना लोकप्रिय सिद्ध हो जाय जो यूरोपीय देशों में व्याप्त थी अर्थात् एक देश के रहने वाले अपने–आपको एक कौम के सदस्य समझें। १९१९–२१ ई० के मध्य खिलाफत के प्रश्न को इसीलिए राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ा गया था कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों सम्प्रदाय राजनीतिक संघर्ष में एक दूसरे के साथ रहें, किन्तु मोहम्मदअली ने 'मिल्लत दोस्ती' का विचार प्रतिपादित किया। यह विचार मुसलमानों को भारतीय कौम में सम्मिलित होने से रोकने में बहुत सीमा तक सफल हुआ। इस विचार की पूरी व्याख्या मोहम्मद इकबाल ने की थी। "मिल्लत दोस्ती" और "वतन दोस्ती" तथा "कौम परवरी" यह तीन ऐसे शब्द हैं जिनका मुस्लिम नेताओं के भाषणों में बहुत बार वर्णन आता है। "कौम परवरी" का अर्थ है कौमियत (नेशनलिज्म) के विचार का समर्थन। वतन दोस्ती का अर्थ है देशप्रेम।

१९२३ ई० में राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच से मोहम्मदअली ने देशभक्ति और कौमियत के उस विचार की निन्दा की थी जो जापान में प्रचलित था। इसके विपरीत वे केवल एक धार्मिक समझौता चाहते थे।[१०३] वे भारतीय समस्याओं को प्राय *अन्तर्राष्ट्रीय नहीं मानते थे, लेकिन जब यूरोप के राजनीतिज्ञ कौमियत से प्रभावित* होकर भी अपना प्रभाव इटली के पुराने नगर बोलोना तक स्थापित करना चाहते थे तो उनके अनुसार भारतीय कौमियत से भी निराश नहीं होना चाहिए था। उनका विचार था कि वे भारत में समस्त यूरोप की एकता से पहले एकता प्राप्त कर लेंगे।

मोहम्मदअली के राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुकने के पश्चात् उनका "मिल्लत परस्ती" की प्रशंसा करना और देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की निन्दा करना अत्यन्त आश्चर्यजनक लगा। विवश होकर मोहम्मद अली ने आत्म रक्षा में वास्तविकता कही।

---

१०१. वही।

१०२. हमदर्द, ३ अप्रैल, १९२९ - मजामीन, भाग २, पृ० २६१-२७३।

१०३. अध्यक्षीय भाषण, पृ० ६२।

मोहम्मद अली १९०६ ई० में मुस्लिम लीग के संस्थापकों में से एक थे। १९१७ ई० मे वे मुस्लिम लीग के अध्यक्ष चुने गये थे लेकिन जेल में बन्द होने के कारण वे अध्यक्षता नही कर सके जिसका उन्हें जीवन भर अफसोस रहा। सबमे प्रथम पद जो समस्त जीवन मे उन्हें उपलब्ध हुआ और जिसका निर्णय उनके बन्दी रहने की अवधि में हो बिना उनकी अनुमति और सूचना के कर लिया गया था। वह इण्डियन नेशनल कांग्रेस की १९२३ ई० के अध्यक्ष का था। वे पद ग्रहण करने से इन्कार कर सकते थे लेकिन किन्हीं कारणों से उन्होंने ऐसा न किया। इसके पश्चात् उनके लिये और भी अधिक कठिन हो गया कि उनका कोई कथन अथवा कार्य देश भक्ति की भावना के विरुद्ध हो सके।[१०४]

अगस्त १९२५ ई० मे लाहौर में भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि 'मुसलमान ....एक बिरादरी, एक जाति तथा एक कौम हैं।'[१०५] फरवरी १९२६ ई० में उन्होंने कहा–"मुसलमान........यदि उन्नति कर सकते हैं तो केवल उसी स्थिति में कि वे अपने धर्म की ओर फिर लौट आए।"[१०६]

१९२६ ई० में 'हमदर्द' में लिखते हुए मोहम्मदअली ने देशप्रेम को बहुत तुच्छ और धर्म के प्रति प्रेम और निष्ठा को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बताया था। उनके इस विचार से, उन्हें स्वयं यह आशंका थी, कि देशप्रेम की थोड़ी बहुत प्रगति जो हो रही थी वह भी समाप्त हो जायगी।[१०७] मोहम्मद अली ने अपनी आत्मरक्षा मे यह स्वीकार किया था कि धर्म-प्रेम की भावना भी उनमें बहुत अधिक विकसित नही थी। इसलिए धर्म प्रेम को बढाने मे देशप्रेम मे बाधा नही उत्पन्न होगी।

मोहम्मद अली वतन दोस्त नही थे। इकबाल की प्रसिद्ध कविता "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा" पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि मेरे निकट हिन्दुस्तान 'सारे जहाँ से अच्छा' नही था।[१०८] एक अन्य लेख मे उन्होंने लिखा कि मैं आजकल की राजनीतिक कौमियत के विचार का विरोधी हूँ और इकबाल की एक दूसरी कविता के एक पद को अपना लक्ष्य बनाया था :

"चीन व अरब हमारा, हिन्दोस्ताँ हमारा,
मुस्लिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा"[१०९]

---

१०४. हमदर्द, ३१ अक्टूबर १९२६ (मजामीन, भाग २, पृ० २२) मोहम्मदअली ने अपना यह तर्क उनके एक लेख पर की गई आपत्ति के उत्तर में दिया था उनका निबन्ध "इण्डियन नेशनल यूनियन" पर था और वे अपने आलोचक से उनके विचारों को एक महीने तक पढ़ने की अनुमति चाहते थे।

१०५. हमदर्द, २ सितम्बर १९२५, (मकालात, भाग १, पृ० ७६)।

१०६. हमदर्द, १७-१८ फरवरी १९२६, (मकालात, भाग १, पृ० २१६)।

१०७. हमदर्द, ३१ अक्टूबर १९२६, (मजामीन, भाग २, पृ० २०)।

१०८. हमदर्द, १७ अगस्त १९२७, (मजामीन, भाग २, पृ० ४४२)।

१०९. हमदर्द, १९ अगस्त १९२७, (मजामीन, भाग २, पृ० १-४६०)।

१९३० ई० में गोलमेज सम्मेलन में बोलते हुए उन्होंने एक मुसलमान की भाँति कहा : "खुदा ने मनुष्यों को बनाया और शैतान ने कौमों को। कौमियत का सिद्धान्त मनुष्यों को एक दूसरे से अलग कर देता है किन्तु धार्मिक एकता मनुष्यों को एक दूसरे से सम्बन्धित करती है।"[110]

मोहम्मद अली धार्मिक विचारधारा से प्रभावित थे। इस विचारधारा का एक प्रमुख अंग अंग्रेज़ों के प्रति भक्ति एवं निष्ठा का प्रचार था। मोहम्मद अली अत्यधिक धार्मिक प्रेरणाओं से प्रभावित होने के कारण इस नीति को मस्तिष्क रूप से नहीं निकाल सके और कानपुर मस्जिद तथा तुर्की समस्या पर वे अंग्रेज़ विरोधी लोगों के मिलने पर बाध्य हुए। इस प्रकार १९२०–२१ ई० में खिलाफत आन्दोलन के नेता, तथा १९२३ ई० में कांग्रेस के अध्यक्ष तथा मुसलमानों के शिमला शिष्टमण्डल (१९०६) को आशाजनक कहने वाले मोहम्मद अली के विषय में सामान्यतः अंग्रेज़ विरोधी होने की बात कही जाती है। इस विचारधारा की पुष्टि उनके १९३० ई० में दिये गये भाषण से होती है जिसमें वे भारत के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे और गुलाम देश की अपेक्षा एक अन्य स्वतन्त्र देश में मृत्यु को अधिक अच्छा समझते थे। यह ठीक नहीं है जैसा ऊपर बताया जा चुका है।

वास्तव में मोहम्मद अली बड़े भारी अवसरवादी थे। १९१४ ई० में उन्होंने लिखा था, "हमने उपरोक्त घटनाओं (बल्कान तथा ट्रिपोली युद्ध) का अध्ययन करके इस विचार को सबसे अधिक महत्वपूर्ण पाया है कि हमारे अपने कौमी व सामूहिक जीवन की सुरक्षा वर्तमान स्थिति में इंगलैण्ड के संरक्षण के अधीन रहना आवश्यक है। यह देखकर कि इंगलैण्ड ने हमारे साथ जो बुराइयाँ की हैं उनसे कहीं अधिक उसके अहसान हैं, हम ईमानदारी तथा सच्ची नियत से उसके प्रति भक्त रहेंगे।"[111]

१९२० ई० में जेल से छूटने के पश्चात् उन्होंने कहा "हम भूलते हैं कि हमें कैद किया गया था……हम दोनों भाई तैयार हैं कि सरकार के तुच्छ से तुच्छ नौकर के कदमों में अपना सर रख दें। इसमें हमारा कुछ अपमान नहीं है।"[112]

१९२३ ई० में भी उन्होंने अपने पुराने विचारों की पुष्टि करते हुए उन्हें दोहराया था–"हम……कह सकते हैं कि हमें इंगलैण्ड की आवश्यकता है। हमारी वर्तमान साम्प्रदायिक और कौमी उन्नति के समय उसका निरीक्षण तथा आश्रय आवश्यक है। हम स्वतन्त्र लोगों की भाँति उसके प्रति भक्त रहेंगे और हृदय से उसकी आज्ञाओं का पालन करेंगे…… यदि तुर्की से युद्ध भी आरम्भ होगा तब भी भारतीय मुसलमानों की भक्ति स्थिर रहेगी और जब वास्तविक युद्ध भी आरम्भ भी हो गया तो यह भक्ति समाप्त नहीं हुई।"[113]

---

११०. हयात-ए-जौहर, पृ० १११।

१११. हयात-ए-जौहर, पृ० ५५। (कामरेड में, १२ अगस्त १९१४ को छपे लेख से उद्धरण)।

११२. तकरीर, पृ० ११, दिल्ली में ६ जनवरी, १९२० को दिया गया भाषण।

११३. अध्यक्षीय भाषण, पृ० ८३।

१९३० ई० में उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया था कि—"मैंने अपना राजनीतिक सिद्धान्त परिवर्तित कर लिया है। मैं पहले सरकार का विद्रोही था लेकिन अब मैं अपने देश का द्रोही हूँ और अब मैं सरकार के साथ मिलकर कार्य कर रहा हूँ। मैं कहता हूँ कि मैं "शैतान" के साथ भी मिलकर कार्य कर सकता हूँ यदि खुदा के मार्ग में काम करना हो।"[११४]

मोहम्मद अली ने अंग्रेजी सरकार की भेदनीति को भी समयानुसार व्यक्त किया था। १९२३ ई० में उन्होंने मुसलमानों के राजनीति में प्रवेश के सम्बन्ध में कहा—"मुसलमान राजनीति में प्रविष्ट नहीं हुए, मुसलमान कांग्रेस में सम्मिलित नहीं हुए। मुसलमानों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध जनता का साथ नहीं दिया और अपने देश के हिन्दू भाईयों का भी साथ नहीं दिया; किन्तु जो पग भी उन्होंने उठाया यूं ही उठाया। बहुत ही आहिस्ता और अनमने ढंग से आगे बढ़ाया। केवल परिस्थितियों से विवश होकर और तत्कालीन स्थिति से प्रभावित होकर उन्होंने ऐसा किया।"[११५] इसी भाषण में उन्होंने १९०६ ई० के मुसलमानों के शिमला शिष्टमण्डल को 'आज्ञापालन" कहा था,[११६] तथा यह भी स्वीकार किया था कि अंग्रेज़ों ने "हिन्दू भाईयों से लड़ने के लिये हमें बिल्लियों की भाँति प्रयोग करके हमारे नाखून और पंजों से लाभ उठाया।"[११७]

अंग्रेज़ों की इसी भेद नीति को दूसरी प्रकार भी उन्होंने प्रकट किया था और हिन्दुओं को इस नीति का भागी बताया था। उनके अनुसार "एक समय था कि अंग्रेज़ी सरकार मुसलमानों से डरती थी। उसे यह सन्देह रहता था कि मुसलमान सदियों से इस देश में राजपाट के स्वामी रहे थे फिर एक बार यदि ये झण्डा लेकर उठ खड़े हुए और अपनी खोई हुई पूँजी पुनः प्राप्त कर लेने के लिए प्रयत्न किया तो बहुत कठिनाई हो जायगी। लेकिन अंग्रेज़ों ने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि अगर हिन्दू जो मुसलमानों से संख्या में तीन गुने या चार गुने अधिक हैं उनके विरुद्ध खड़े किये जा सकते थे तो मुसलमानों को फिर और किसी के विरुद्ध उठ खड़े होने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। फिर यही झगड़ा उनकी परेशानी के लिये पर्याप्त होगा।" इस प्रकार मोहम्मद अली ने राष्ट्रीय आन्दोलन को भी अंग्रेज़ों द्वारा मुसलमानों के विरुद्ध खड़ा

---

११४. हयात-ए-जौहर, पृ० १००।

११५. अध्यक्षीय भाषण, पृ० ५०-५१।

११६. अध्यक्षीय भाषण, पृ० ५४। यह तर्क बाद में नहीं दोहराया गया था जबकि विभिन्न अवसरों पर १९०६ ई० के शिमला शिष्ट मण्डल का वर्णन किया गया था। १९२७ ई० यह 'आज्ञापालन' केवल "एक इशारा" मात्र रह गया था। हमदर्द, १८ अप्रैल, १९२७, मजामीन भाग २, पृ० १४४ (देखिये इफादात-ए-मोहम्मदअली, पृ० ३०८-३०९)।

११७ अध्यक्षीय भाषण, पृ० ६२।

किया गया आन्दोलन कहा था।[११८]

गोलमेज सम्मेलन में उन्होंने कहा, "यदि भारत में इंग्लैंड का अधिकार समाप्त भी हो जाता है तब भी हम इंग्लैंड की मैत्री को समाप्त नहीं करेंगे। इंग्लैण्ड के लिये हमारे दिलों में प्रेम है।[११९]

---

११८. इफादात-ए-मोहम्मद अली, पृ० २५७।
११९. हयात-ए-जौहर, पृ० ११०।

५

शेख मोहम्मद इकबाल

(१८७३–१९३८)

मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में इकबाल का विशिष्ट स्थान है। एक दार्शनिक तथा कवि होने के अतिरिक्त उन्होंने मुसलमानों के समक्ष एक लक्ष्य प्रस्तुत किया था इसी लक्ष्य के आधार पर मुसलमानों के राजनीतिक नेता उनके पृथक् हितों की कल्पना कर सके तथा उनके लिए एक पृथक् राज्य की स्थापना का लक्ष्य बना सके।

इकबाल १८७३ ई० मे स्यालकोट (पश्चिमी पंजाब) में पैदा हुए। १८९५ई० मे वे उच्च शिक्षा के लिए लाहौर आ गए। १८९९ ई० में इकबाल ने अपनी पहली कविता *अन्जुमन-ए-हिमायत-ए-इस्लाम, लाहौर,* के वार्षिक अधिवेशन में पढ़ी। अप्रेल १९०१ के पश्चात् उनकी कविताएँ उर्दू पत्रिका 'मखजन' मे नियमित रूप से प्रकाशित होती रहीं। १९०५ ई० में इकबाल उच्च शिक्षा के लिए यूरोप गए। वे तीन वर्ष वहां रहे तथा उन्होंने वहां पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त कर ली। यूरोप में रहते हुए उन्होंने उर्दू मे कविता लिखना भी कम कर दिया था और सामान्य मान्यता के अनुसार उनके विचारो में भी परिवर्तन आ गया था। वे अब केवल मुसलमानों के हितो की ही कल्पना करते थे।

१९०८ ई० में भारत लौट आने के पश्चात् वे प्रायः जीवन भर लाहौर में ही रहे। वे लाहौर के गवर्नमेन्ट कॉलेज में अंग्रेजी साहित्य तथा दर्शन के प्रोफ़ेसर पद पर नियुक्त हो गए। साथ ही वे वकालत भी करते रहे। कुछ समय पश्चात् उन्होने गवर्नमेन्ट कॉलेज की नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और वकालत ही उनका व्यवसाय रह गया। १९०८ ई० के पश्चात् इकबाल ने कुछ प्रसिद्ध कविताओं की रचना की जैसे-'तराना-ए-मिल्ली', 'शिकवा', 'जवाब-ए-शिकवा', 'शमा और शायर'। इसी अवधि मे एक अन्य कविता 'वतनियत' के शीर्षक से प्रकाशित हुई जिसमे देशप्रेम की कल्पना पर टिप्पणी की गई थी। १९१५ ई० मे उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक कविता

'असरार-ए-खुदी' प्रकाशित हुई। इस कविता की आलोचना तथा प्रशंसा बहुत हुई। इसके पश्चात् १६१८ ई० मे उनका दूसरा काव्य ग्रन्थ 'रमूज-ए-बेखुदी' प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् १६२१ ई० मे 'खिज्र-ए-राह' तथा १६२२ ई० मे 'तुलु-ए-इस्लाम' प्रकाशित हुई। १६२३ ई० मे उनकी कविताओ का संग्रह 'वाँग-ए-दरा' प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् 'पयाम-ए-मशरिक' फारसी में प्रकाशित किया गया। दो वर्ष पश्चात् 'जबूर-ए-अजम' और फिर 'जावेदनामा' प्रकाशित हुए। १६३५ ई० मे पुन. इकबाल उर्दू की ओर आकर्षित हुए और 'बाल-ए-जबरील' (१६३५) तथा 'जर्ब-ए-कलीम' (१६३६) मे प्रकाशित की गई।

इकबाल एक कवि ही नही थे बल्कि वे एक महान् विचारक एव दार्शनिक भी थे। उनका राजनीतिक चिन्तन अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा उच्च कोटि का था। १६२७ ई० मे मोहम्मद इकबाल को मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से पंजाब विधान सभा का सदस्य चुन लिया गया। वे १६३० ई० तक सदस्य बने रहे। वे मुस्लिम लीग के सचिव भी रहे किन्तु कुछ मतभेदो के कारण १६२८ ई० में उन्होंने इस पद से त्यागपत्र दे दिया। १६३० ई० मे उन्हे मुस्लिम लीग का अध्यक्ष चुना गया और १६३१-३२ ई० में वे दूसरे तथा तीसरे गोलमेज सम्मेलन मे भाग लेने के लिये लन्दन गए। १६३२ ई० मे उन्होने अखिल भारतीय मुस्लिम कॉन्फ्रेन्स की अध्यक्षता की और १६३५ ई० से १६३८ ई० तक जिन्ना को निरन्तर परामर्श देते रहे।

१६२४ ई० मे उन्हे गुर्दे की बीमारी आरम्भ हो गई थी। १६२४-३४ ई० के मध्य यह नियन्त्रण मे रही किन्तु १६३४ ई० मे वे काफी बीमार हो गए थे। उन्हे गले की तकलीफ ऐसी हो गई थी कि उनकी आवाज निकलना भी बन्द हो गया था। १६३७ ई० मे उनकी आँखे भी खराब हो गई थी। इस प्रकार उनके जीवन के अन्तिम वर्ष शारीरिक कष्ट मे व्यतीत हुए किन्तु वे मुसलमानो के राजनीतिक हितों के प्रति जागरूक रहे और अन्तिम समय तक घनिष्ट सम्पर्क मे रहे। २५ मार्च, १६३८ ई० को उनकी दशा काफी खराब हो गई और २१ अप्रेल, १६३८ ई० को उनकी मृत्यु हो गई।

इकबाल का एक विशेष मन्तव्य यह था कि उन्होंने मुसलमानो की कौमियत का आधार भूमि के स्थान पर इस्लाम को बताया था। उन्होंने मुसलमानो को मिल्लत के माध्यम से ही संगठित माना था। 'वतन' अथवा भूमि के आधार पर कौमियत की कल्पना का उन्होंने विरोध किया था और इस प्रकार मुसलमानों को भारतीय कौमियत मे विलय होने से रोक दिया था। साधारणतया इकबाल को उनके 'तराना-ए-हिन्दी' (१६०४ ई०) से जाना जाता है जिसमे उन्होने कहा था :

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा, हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलिस्ताँ हमारा,
मजहब नही सिखाता आपस मे बैर रखना, हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्तान हमारा।"[1]

---

१. बाँग-ए-दरा, पृ० ७७-७८।

उपरोक्त कविता से उनके देशप्रेम का अर्थ लगाया जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु इस कविता का अर्थ इकबाल के लेखों की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए।

वतन का अर्थ उस समय महत्त्वपूर्ण होता है जब वतन को कौम का आधार मान लिया जाता है। अर्थात् एक वतन के रहने वाले एक कौम के सदस्य समझे जाएँ। इस कविता का देशप्रेम के सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं रहता है यदि इकबाल का अभिप्राय एक "हिन्दी" (हिन्दुस्तान में रहने वालों की) कौम से नहीं था।

इकबाल ने १९३८ ई० में भी जबकि वे मुसलमानों के पृथक् राज्य के विचार का प्रतिपादन कर चुके थे, यह लिखा था कि "हम सब हिन्दी हैं और हिन्दी कहलाते हैं क्योंकि हम सब भूमि के उस भाग में रहते सहते हैं जिसे हिन्द (भारत) के नाम से पुकारते हैं........'वतन' का शब्द........ केवल एक भौगोलिक प्रयोग है और इस स्थिति में इसका इस्लाम से संघर्ष नहीं होता है........इन अर्थों में प्रत्येक मनुष्य प्राकृतिक रूप से अपनी जन्मभूमि में प्रेम रखता है........किन्तु आधुनिक साहित्य में वतन का अर्थ केवल भौगोलिक ही नहीं बल्कि वतन मनुष्यों के संगठित अस्तित्व का एक सिद्धान्त बन जाता है और इस दृष्टि से एक राजनीतिक कल्पना है। चूँकि इस्लाम में मनुष्यों के संगठित अस्तित्व का एक नियम है, इसलिए जब वतन को एक राजनीतिक प्रत्यय के रूप में प्रयोग किया जाए तो वह इस्लाम विरोधी है।[२]

आधुनिक युग में कौमों का केवल वतन के आधार पर गठन करना और भारतीय मुसलमानों को यह सुझाव देना कि वे इसे स्वीकार करें इकबाल के लिये असह्य था। इकबाल ने बताया था कि वे वतनियत के ऐसे दृष्टिकोण की आलोचना उस समय से कर रहे थे जबकि इस्लामी जगत और भारत में इस दृष्टिकोण की कोई विशेष चर्चा भी नहीं थी।[३]

इकबाल को १९०४ ई० में भी देश-प्रेम जैसी कल्पना से कोई विशेष लगाव नहीं था। इसकी पुष्टि उनकी अन्य कविताओं से होती है। १९०४ ई० में उन्होंने 'सदा-ए-दर्द' लिखी थी। बाँग-ए-दरा में प्रकाशित करते समय इकबाल ने इसकी कुछ पंक्तियों को निकाल दिया था।[४] वे पंक्तियाँ थीं—

"पार ले चल फिर मुझे ए किश्ती-ए-मौज-ए-अटक,
अब नहीं भाती यहाँ के बोस्तानों की महक।

---

२. मजामीन इकबाल, पृ० १९२।

३. मजामीन-ए-इकबाल, पृ० १८०। यह एक लम्बा निबन्ध है जो इकबाल ने मौलाना हुसैन अहमद मदनी के लेख के उत्तर में लिखा था और दैनिक पत्र 'एहसान' में ९ मार्च १९३८ ई० को छपा था।

४. प्रो० युसुफ सलीम चिश्ती : शरह बाँग-ए-दरा, पृ० ६७। इन पंक्तियों के अनुसार इकबाल वालमीक के देश को छोड़ देना चाहते थे।

अलविदा ऐ सैरगाह शेख शीराज, अलविदा,
ए दयार-ए-वाल्मीक नुकता परदाज, अलविदा।

बाँग-ए-दरा के प्रथम भाग की कविताओं के पश्चात् कुछ विविध 'गजलें' दी हुई हैं उनमें से एक गजल में उन्होंने कहा था[५]—

हवा हो ऐसी कि हिन्दोस्तान से ए इकबाल,
उड़ा के मुझको गुब्बारे रह-ए-हिजाज करे।

उपरोक्त दोनों उदाहरण इस बात को प्रमाणित करते हैं कि १६०४ ई० में ही इकबाल देश छोड़कर चले जाने की बात कहते थे। अप्रैल १६०६ ई० में अपने एक निजि पत्र में उन्होंने कु अतिया बेगम को लिखा था, "मेरा लक्ष्य इस देश से शीघ्र अतिशीघ्र भाग जाना है""""(अपनी व्यक्तिगत घरेलू कठिनाइयों का वर्णन करने के बाद अन्त में लिखते हैं) (मेरे दुःख का)"""""एक मात्र उपचार यह है कि मुझे इस अभागे देश को सदा के लिये छोड़ देना चाहिए।[६] १६०८ में उन्होंने 'वतनियत' (अर्थात् वतन एक राजनीतिक कल्पना के रूप में) शीर्षक से एक कविता की रचना की जिसमें लिखा था[७]—

"इन ताजा खुदाओं में बड़ा सबसे वतन है—
जो पैरहन इसका है वह मजहब का कफ़न है
यह बुत कि तराशीदा तहज़ीब नवी है
गारतगर काशाना-ए-दीन नबवी है[८]
है तर्क वतन सुन्नत-ए-महबूब इलाही
दे तू भी नबूत की सदाक़त पै गवाही[९]
गुफ्तार-ए-सियासत में वतन और ही कुछ है
इरशादे नबूत में वतन और ही कुछ है।

वतन के भौगोलिक सीमाओं पर आधारित होने की आलोचना करते हुए तराना-ए-मिल्ली (१६०८) में उन्होंने लिखा था[१०]—

---

५ बाँग-ए-दरा, पृ० १०५।

६. अतिया बेगम : इकबाल, पृ० ३६।

७. बाँग ए-दरा, पृ० १६५-१६६।

८. वतन की यह मूर्ति जिसे पश्चिमी सभ्यता ने बनाया है इस्लाम धर्म की शत्रु है।

६. यदि आवश्यकता पड़े तो तू देश (वतन) छोड़ दे जिस प्रकार हजरत मोहम्मद ने किया था जबकि मक्का में जीवन-निर्वाह कठिन हो गया था। इसलिए तू किसी देश में इस्लामी जीवन व्यतीत करने में कठिनाई अनुभव करे तो देश को छोड़ दे और परदेश को अपना देश बना ले।

१०. बाँग-ए-दरा, पृ० १६४।

"चीन व अरब हमारा हिन्दुस्तान हमारा
मुस्लिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा"

इसी समय एक अन्य कविता "वलाद-ए-इस्लामिया" (अर्थात् इस्लामी शहरों, १९०८) में इकबाल ने लिखा था[११]—

"है अगर कौमियते इस्लाम पाबन्दे मुकाम
हिन्द ही बुनियाद है इसकी न फारिस न श्याम
आह, यसरब देश है मुस्लिम का तू मावा है तू
नुक्त-ए-आजिब सासुर की शुयाओं का है तू"

इन दोनो पदो का अर्थ है—सामान्यतः तो इस्लाम की कौमियत किसी स्थान के साथ जुड़ी हुई नही है लेकिन यदि उसे किसी भूमि के साथ जोड़ा भी जाए तो मुसलमानो की कौम का आधार न हिन्द है न ईरान और न श्याम। वह भूमि यसरब (मदीना) है (मदीना को सम्बोधित करते हुए इकबाल कहते हैं) कि तू ही मुसलमानों के छिपने का स्थान है और तू ही समस्त विश्व के मुसलमानों के दिलों को अपनी ओर खीचने की शक्ति रखता है।

१९१३ ई० में 'जवाब शिकवा' मे इकबाल ने इस बात पर बल दिया कि "ऐ मुसलमान, तू अपने दामन को वतन की मिट्टी से झाड़कर रख तब ही तू उन्नति कर सकेगा।" इसी बात को उन्होने 'रमूज-ए-बेखुदी' (१९१८) में कहा कि मुसलमान वतन अथवा देश से बन्धा हुआ नही है उसे तो ईश्वर की एकता और हजरत-मोहम्मद के अन्तिम पैगम्बर होने पर यकीन रखना चाहिए तब ही वह उन्नति कर सकता था।

१९१८ ई० मे अकबर इलाहाबादी को (जिनके प्रति इकबाल के मन मे बड़ी श्रद्धा थी) एक पत्र मे उन्होंने लिखा था[१२]:

"इस समय इस्लाम का शत्रु साइन्स (विज्ञान) नही·······इसका शत्रु यूरोप का क्षेत्रीय आधार पर राष्ट्रीयता का सिद्धान्त है जिसने तुर्कों को खिलाफत के विरुद्ध उकसाया·······"

१९२०-२१ ई० डॉ० निकलसन (जिन्होने असरार-ए-खुदी का अंग्रेजी भाषा मे अनुवाद किया था) को एक पत्र मे इकबाल ने लिखा था:

"इस्लाम सदा जाति व रंग भेद के सिद्धान्त का जो मानवता के लक्ष्य की प्राप्ति मे सबसे बड़ा पत्थर है अत्यन्त सफल शत्रु रहा है·······कौमियत का सिद्धान्त जिसका आधार जाति या देश की भौगोलिक सीमाओं पर है इस्लामी जगत में सफलता प्राप्त कर रहा है और मुसलमान विश्व भ्रातृत्व के लक्ष्य को भूलकर इस

११. बांग-ए-दरा, पृ० १५० । प्रो० युसुफ सलीम चिश्ती शरह-ब.ग-ए-दरा, पृ० २६५-२६६ ।
१२. शेख अता उल्लाह (सम्प.) इन्तखाब-ए-मक्तीब, पृ० २६६ । इकबाल का पत्र : दिनांक ११ जून, १९१८ ।

विचार के धोखे में फँसे हुए हैं जो कौमियत को राज्य व देश की सीमाओं में सीमित रखने की शिक्षा देता है।"[१३]

मुस्लिम युनिवर्सिटी के समक्ष भाषण करते हुए उन्होंने कहा था :

"वतन परस्ती (देश के लिए बलिदान करना) का विचार जो कौमियत की कल्पना से पैदा होता है एक प्रकार से एक भौतिक वस्तु की पूजा है जो पूरी तरह से इस्लाम के विरुद्ध है। इसलिए कि इस्लाम विश्व में हर प्रकार की ऐसी भक्ति भावना को समाप्त करने के लिए पैदा हुआ था जो ईश्वर भक्ति में साझेदार होने का दावा करे।[१४]

जब इकबाल 'वतन परस्ती' का विरोध करते थे तो भारतीयों के एक कौम के समर्थक होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। भारतवासी एक कौम के सदस्य थे यह कल्पना केवल पश्चिमी राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार भौगोलिक सीमाओं पर आधारित थी। इसलिए 'वतनियत' और 'कौमियत' दोनों भावनाएँ एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। इकबाल की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि "उन्होंने आधुनिक युग की सबसे बड़ी मूर्ति अर्थात् कौमियत की पूजा को खण्डित कर दिया है।"[१५]

१९२७ का वर्ष राजनीतिक विकास में विशेष महत्त्व रखता है। इसके पश्चात् भारतीय राजनीति में घटनाओं का क्रम अधिक वेग से चलता रहा। १९२८ ई० में नेहरू समिति ने डोमिनियन स्टेटस की माँग प्रस्तुत की।

१९२७ ई० में पंजाब लेजिस्लेटिव कौंसिल में भाषण करते हुए इकबाल ने कहा था, "(भारत में) एक कौमियत की बातचीत बेकार है और बहुत समय तक बेकार रहेगी''''''जिस प्रकार अधिक आवाज करने वाली मुर्गी अधिक अंडे नहीं देती उसी प्रकार इस शब्द से भी कोई परिणाम नहीं निकल सका''''''मेरे विचार में एक कौम होना अच्छा नहीं है''''''[१६] । १९३० ई० में मुस्लिम लीग के समक्ष अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने मुख्य लक्ष्य यह मान लिया था कि—

"भारतीय मुसलमान हर स्थिति में अपनी इस्लामियत को सुरक्षित रखने के इच्छुक हैं"

ऐसी स्थिति में कौम व वतन के विचारों ने मुसलमानों के समक्ष मुख्य संकट प्रस्तुत कर दिया था क्योंकि इकबाल को यह आशंका थी कि जातीयता की भावनाएँ प्रगति करते-करते ऐसे नियमों तथा सिद्धान्तों का प्रोत्साहन दे देगी जो इस्लाम विरोधी तथा उसके विपरीत भी हों।[१७]

---

१३. मजामीन-ए-इकबाल, पृ० ७० ।
१४ खुतबात-ए-इकबाल, पृ० ६१ ।
१५. वही, पृ० १८, गुलाम अहमद परवेज (सम्पादक) की टिप्पणी।
१६. शामलू : इकबाल के भाषण, पृ० ६६-६८ ।
१७. खुतबात-ए-इकबाल, पृ० २५-३० ।

इकबाल के अनुसार इस्लाम धर्म का प्रश्न एक व्यक्तिगत प्रश्न नहीं था। वे यह कल्पना भी करने के लिए तैयार नहीं थे कि राजनीतिक लक्ष्य की दृष्टि से इस्लाम की भी वही दशा हो जो ईसाई धर्म की पश्चिम में हुई थी। वे इस बात को असम्भव मानते थे कि मुसलमान इस्लाम के राजनीतिक प्रबन्ध के स्थान पर उन कौमी प्रबन्धों को ग्रहण कर लें जिनमें धार्मिक हस्तक्षेप की कोई सम्भावना ही न रहे। जब उनके समक्ष यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि तुर्की ईरान और अन्य इस्लामी देशों में कौमियत का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता था जब उन्होंने कहा कि "कौमियत की समस्या उन देशों में पैदा ही नहीं होती जहाँ मुसलमान बहुसंख्यक हैं क्योंकि वहाँ कौमियत और इस्लामियत एक हो जाते हैं। कौमियत की समस्या केवल उन देशों मे पैदा होती है जहां मुसलमान अल्पसंख्यक हैं। कौमियत का इस्लाम से झगड़ा उस समय पैदा होता है जब वह ऐसे देशों में राजनीतिक गठन का आधार बन जाती है और कौमी जीवन के संचालन में इस्लाम जीवन शक्ति प्रदान करने वाला तत्व नहीं रहता।"[१९] इकबाल के अनुसार भारत के अल्पसंख्यक मुसलमानों के लिए इस्लाम की एकरूपता के सिद्धान्त को अस्वीकार करना घातक सिद्ध हो सकता था। वे चाहते थे कि जिन देशों में मुसलमान अल्पसंख्यक हैं उनका यह प्रयत्न न्यायोचित होगा कि वे सांस्कृतिक एकता के आधार पर स्वायत्तता प्राप्त करें।[१८]

उनके अनुसार भारत एक छोटा एशिया था क्योंकि भारत में एक कौम नहीं रहती थी। "भारत विभिन्न कौमों का वतन है" जिनकी जाति, धर्म सब एक दूसरे से अलग-अलग हैं[२०] मुस्लिम राजनीति का पहला गड्ढा लखनऊ समझौता था क्योंकि वह भारतीय कौमियत के गलत विचार पर बनाया गया था। हिन्दुस्तान के विभिन्न सम्प्रदायों की समस्या एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है।[२१] और भारत में यदि कोई कौम रहती है तो वह मुसलमान ही है।

१६३३ ई० मे उन्होंने कहा कि भारतीय मुसलमान एक पृथक् हिन्दुस्तानी कौम की भाँति अपने पाँव पर खड़ा होने का प्रयत्न करें।[२२] उनके अनुसार भारत की स्थिति को ध्यान में रखते हुए यहाँ एक कौम की पूर्ति असम्भव ही नहीं बल्कि अनुचित भी थी, एक संगठित भारत की नींव ठोस आधारों पर रखनी चाहिए अर्थात् यह कि इस देश में एक से अधिक कौमें आबाद थीं जितनी शीघ्रता से देश के

---

१८. मुतबात, पृ० ५५।

१९. मजामीन-ए-इकबाल, पृ० १७५-१७६—यह लेख पं० नेहरू के वक्तव्य के उत्तर में लिखा गया था और मार्च १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ था।

२०. इकबाल का अध्यक्षीय भाषण, मुतबात-ए-इकबाल, पृ० ३६।

२१. वही, पृ० ५५।

२२. सर फजल हुसैन के भाषण पर इकबाल द्वारा की गई टिप्पणी : आमसू : पृ० २२६।

राजनीतिज्ञ एक कौमियत के विचार को त्याग दें उतना ही अच्छा होगा।[२३]

१९३८ ई० मे इकबाल ने यह स्पष्ट किया कि वे कौमियत के सिद्धान्त का विरोध किस कारण से कर रहे थे। यूरोप का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि यूरोप ने ईसाई धर्म की एकता को छोड़कर विभिन्न राज्यों के आधार पर कौमियत की नींव डाली। इसका परिणाम हुआ अधर्म, भौतिकवाद और आर्थिक युद्ध।[२४] १९०८ ई० में भी उन्होंने लिखा था :

अकवाम जहाँ मे है रकाबत तो इसी से,
तसखीर है मकसूद-ए-तिजारत तो इसी से[२५]
अकवाम में मखलूके खुदा बटती है इसमे,
कौमियत इस्लाम की जड कटती है इससे।

इकबाल को एक भय तो यह था कि इसमे अधार्मिकता का विस्तार होगा। इसके अतिरिक्त इस्लाम के उग्र प्रवक्ता के लिए इसका एक अर्थ यह भी था कि समस्त मानव समाज विभिन्न कौमो मे इस प्रकार बंट जाएगा कि उनमे एकता स्थापित हो सकना सम्भव नही रहेगी। कौमियत का एक अर्थ यह भी हो सकता था कि इस्लाम धर्म केवल किसी एक विशिष्ट देश अथवा कौम के लिये था। इकबाल ने हज़रत मोहम्मद के समय का उदाहरण देकर यह कहना चाहा कि पैगम्बर साहब ने वतन की एकता अथवा वतन के आधार पर कौमियत की नींव नही रखी थी।

इकबाल का कहना था कि "मुसलमान समुदाय की व्यवस्था तथा संगठन का आधार हज़रत मोहम्मद का अन्तिम पैगम्बर होना है। इसकी एकता का आधार इस्लामी मिल्लत है।" कुरान तथा हदीस के आधार पर इकबाल ने मिल्लत शब्द के अर्थ की व्याख्या की थी और बताया था कि हज़रत मोहम्मद ने जहाँ लोगो को किसी सामुदायिक अथवा सामूहिक व्यवस्था मे सम्मिलित होने की बात कही थी, वहाँ मिल्लत शब्द का प्रयोग किया था, किसी कौम की स्थापना अथवा इसमे सम्मिलित होने का सुझाव नही था। उन्होने बताया कि "कई कौमों की एक मिल्लत तो हो सकती थी लेकिन एक मिल्लत की कई कौमों का कही वर्णन नही है। जो लोग अन्य कौमो को छोड़कर मिल्लत में सम्मिलित हो गये उनको बाद मे कभी कौम नही कहा गया बल्कि उम्मत शब्द से सम्बोधित किया गया। मिल्लत कौमों को अपने मे विलय कर लेती है लेकिन स्वयं उनमें विलय नही हो सकती।"[२६]

---

२३. गोलमेज कॉन्फरेन्स में मुस्लिम नेताओं के विचार : इकबाल का यह वक्तव्य ६ नवम्बर, १९३३ ई० को प्रकाशित हुआ। शामलू : इकबाल के भाषण, पृ० २३५-३६।

२४. मजामीन इकबाल, पृ० १८४। यह लेख मौलाना हुसैन अहमद मदनी के उत्तर में लिखा था।

२५. बांग-ए-दरा, पृ० १६६।

२६. मजामीन, पृ० १८८-१९०।

इकबाल का कहना था कि यह नहीं हो सकता कि मुसलमान कौम की दृष्टि से एक हों और मिल्लत की दृष्टि से कुछ और। उन्हें इस बात से बहुत आपत्ति थी कि मुसलमान कौम की दृष्टि से यदि हिन्दुस्तानी बन गए तो उन्हें धर्म को निजी क्षेत्र तक ही सीमित रखना पड़ेगा और वे भारतीयता में घुलमिल जायेंगे।

इकबाल के अनुसार मुसलमानों का कर्त्तव्य था कि "वे अंग्रेजों द्वारा स्थापित दासता के बन्धन तोड़ें और उनके प्रभुत्व को समाप्त करें लेकिन उनका प्रमुख उद्देश्य इस्लाम को सुरक्षित रखना तथा शक्तिशाली बनाना था। इसलिए मुसलमान किसी ऐसी सरकार की स्थापना में सहायक नहीं हो सकते जिसकी नीवें उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित हों जिन पर अंग्रेजी राज्य स्थापित है। एक बेकार वस्तु को मिटाकर दूसरी बेकार वस्तु को स्थापित करने से कोई अर्थ ही नहीं है.........यदि भारत की स्वतन्त्रता का परिणाम यह हो कि जैसा कुफ्र का घर आजकल है वैसा ही रहे या उससे भी खराब बन जाए तो मुसलमान वतन की ऐसी स्वतन्त्रता को हजार बार धिक्कार देते हैं। ऐसी स्वतन्त्रता के हेतु लिखना, बोलना, धन व्यय करना, लाठियाँ खाना, जेल जाना, गोली का निशाना बनना सब कुछ हराम और पूर्णतया हराम है।"[२७]

इकबाल ने मुसलमानों को इस्लाम के आधार पर एक मिल्लत बनाने का परामर्श तो अवश्य दिया लेकिन वे जानते थे कि इस्लामी समुदाय में कई ऐसी विचाराधाराएँ थी जो मुसलमानों को अप्रयत्नशील बना रही थी जैसे इस संसार को बहुत कम मूल्यवान् समझना और उसके स्थान पर 'आखरत' को अधिक महत्त्व देना मुसलमानों की भलाई के लिए हानिकारक था। इसीलिए इकबाल ने इस सांसारिक जीवन को ही महत्त्वपूर्ण बताया था। व्यक्ति का व्यक्तित्व (खुदी) ही समस्त जीवन का केन्द्र था। इस व्यक्तित्व के लिए मोहब्बत, साहस, कस्व-ए-हलाल और सहनशीलता आवश्यक थी। इस खुदी के पतन के लिए भय, सवाल (भिक्षा प्रवृत्ति), दासता और नस्ब परस्ती (अपने पूर्वजों की महानता की पूजा करना) उत्तरदायी होती है। खुदी के विकास में नियमों का पालन, आत्मसंयम और इन्सान-ए-कामिल का आज्ञा-पालन सहायक ही होते हैं। खुदी के विकास में तीन श्रेणियाँ हैं—(१) खुदी को पहचानना (२) खुदी को अन्य खुदियों के साथ देखना (३) खुदी के माध्यम से ईश्वर को पहचानना, उसी समय इन्सान-ए-कामिल का विकास हो सकता है।

अपनी दूसरी मसनवी 'रमूज-ए-बेखुदी' में इकबाल ने उन सिद्धान्तों की चर्चा की थी जिन पर मुस्लिम समाज आधारित होना चाहिए था। खुदी का पूर्ण विकास समाज में रह कर ही सम्भव था। इस्लामी समुदाय एक ईश्वर में विश्वास

---

२७. इकबाल का यह लेख उनकी मृत्यु से प्रायः एक महीना पूर्व ही छपा था। यह लेख दैनिक पत्र 'एहसान' लाहौर में ६ मार्च, १६३८ को छपा था। मजामीन-ए-इकबाल, पृ० १६२-१६६।

रखने और हजरत मोहम्मद के अन्तिम पैगम्बर होने पर आधारित था इसलिए यह किसी स्थान तक सीमित नहीं था और इस समुदाय का आधार देश नहीं था चूँकि ईश्वर ने इस समुदाय की सुरक्षा का आश्वासन दिया है इसलिए यह अमर रहेगा।[२८]

फरवरी १९१२ ई० में 'शमा और शायर' में इकबाल ने व्यक्ति और समुदाय के परस्पर सम्बन्धों के विषय में कहा था—

आह! जब गुलशन की जमैयत परेशां हो चुकी
फूल को बादे बहारी का पयाम आया तो किया[२९]
आबरू बाकी तेरी मिल्लत की जमैयत से थी
जब यह जमैयत गई दुनिया में रुसवा तू हुआ
फर्द कायम रब्ते मिल्लत से है तन्हा कुछ नहीं
मौज है दरया में और बेरूँ दरया कुछ नहीं।[३०]

रमूज-ए-बेखुदी के पश्चात् भी इकबाल जाति, कौमियत, सभ्यता व रंग की भावनाओं के विरुद्ध लिखते रहे।[३१] उन्हें इस बात से बहुत परेशानी थी कि पश्चिमी सिद्धान्तों के प्रचलन ने इस्लामी व्यवस्था को इस तरह काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया था जैसे कैंची सोने के कागजों को काट देती है।

"हिकमते मगरिब से मिल्लत की यह कैफियत हुई
टुकड़े टुकड़े जिस तरह सोने को कर देता है गाज"

मुसलमानों की पराजय का उन्होंने एक ही उपचार बताया था कि वे सब धर्म की शरण में आ जाएँ और सब मिलकर एक हो जाएँ। यदि मुसलमानों ने जाति को उच्च प्राथमिकता दी तो वे संसार से रास्ते की धूल की भाँति उड़ जायेंगे।[३२]

१९०८ ई० के आरम्भ में "अब्दुल कादिर के नाम" कविता में उन्होंने अपना लक्ष्य भारत के मुसलमानों को उनकी खराब स्थिति से अवगत करा देना तथा उन्हें उन्नति का मार्ग बता देना निश्चित किया था। उन्होंने कहा '

'रख्नेजां बुतकदा चीन में उठा लें अपना
सबको महवे रुखे सादी व सुलेमा कर दें[३३]

---

२८ ए० जे० अरबेरी : मिस्ट्रीज ऑफ सेल्फलेसनेस—रमूज-ए-बेखुदी का अंग्रेजी अनुवाद : पृ० २१-३६। यह विचार इकबाल अपनी पहले की कविता में भी व्यक्त कर चुके थे। उदाहरणार्थ वतनियत, जवाब-ए-शिकवा, शमा और शायर।

२९ बांग-ए-दरा, पृ० १६६।

३०. वही, पृ० २०२।

३१ खिज्र-ए-राह, यह कविता १९२१ ई० में लिखी गई थी। बांग-ए-दरा, पृ० २६०।

३२. वही, पृ० २६२-२६६।

३३. वही, पृ० १३४।

अर्थात् भारत के मुसलमानों को गैर इस्लामी सभ्यता से हटाकर इस्लामियत की ओर आकर्षित कर दें।

फरवरी १९१२ ई० में 'शमा और शायर' में भी इकबाल ने कहा था—

सनूते तौहीद कायम जिन नमाजों से हुई
वह नमाजें हिन्द में निज्र बहमण हो गईं[३४]

अर्थात् भारत में जिन मुसलमानों ने एक ईश्वर पर विश्वास रखकर सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त की थी वे मुसलमान ही अब ब्राह्मणों के समक्ष झुकने लगे और हिन्दुओं के से रीति-रिवाज अपनाने लगे थे।

'जवाब-ए-शिकवा' में भी इकबाल एक स्थान पर मुसलमानों को गैर मुसलमानी प्रभाव छोड़ने के लिये कहते थे[३५]

"शोर है हो गए दुनिया से मुसलमान नाबूद
हम यह कहते हैं कि थे भी कहीं मुस्लिम मौजूद
वज़ा में तुम हो निसारी तो तमद्दुन में हनूद
यह मुसलमान है जिन्हे देख के शर्माए यहूद
यूं तो सैयद भी हो मिरजा भी हो अफगान भी हो,
तुम सभी कुछ हो बताओ तो मुसलमान भी हो।

उन्होंने 'बज्म-ए-अन्जुम' में मुसलमानों को आपस में संगठित होने की बात तारों की दुनिया से समझा कर बताई थी। जिस प्रकार आकाश में तारे आपसी आकर्षण के आधार पर टिके हुए हैं उसी प्रकार मुसलमानों को भी ऐसे ही आपसी आकर्षण के आधार पर संगठित होना चाहिए।[३६] यह आपसी सम्पर्क और मैत्री केवल धर्म के आधार पर हो सकती थी। इसलिए 'मजहब' कविता में इकबाल ने कहा है—

"दामन-ए-दीन हाथ से छूटा तो जमैयत कहाँ,
और जमैयत हुई रुखसत तो मिल्लत भी गई।[३७]

१९१३ ई० में 'जवाब शिकवा' में इकबाल ने मुसलमानों को उन्नति करने का मार्ग बताया था :

कौम मजहब से है मजहब जो नहीं तुम भी नहीं,
जज्ब बाहम जो नहीं महफिल अन्जुम भी नहीं।[३८]

---

३४. वही, पृ० १९९। सनूत=प्रतिष्ठा तथा सम्मान, तौहीद=एक ईश्वरवाद
निज्र=अर्पित

३५. जवाब शिकवा-वही, पृ० २१८। निसारी=ईसाई
हनूद=हिन्दू का बहुवचन
नाबूद=मिट गए।

३६. वही, पृ० १८४।
३७. वही, पृ० २७१।
३८. वही, पृ० २१५।

एक अन्य बन्द है—

मनफेत एक है इस कौम की नुकसान भी एक
एक ही सबका नबी दीन भी ईमान भी एक
हरमे पाक भी, अल्लाह भी, कुरान भी एक
कुछ बड़ी बात थी होते जो मुसलमान भी एक
फिरका बन्दी है कहीं और कहीं जातें हैं
क्या जमाने में पनपने की यही बातें हैं।[३९]

'खिज्र-ए-राह' में इकबाल मुसलमानों को चेतावनी देते हैं कि यदि जाति किसी भी तरह धर्म पर प्रधानता प्राप्त कर ले गई तो फिर मुसलमान दुनिया में रास्ते की मिट्टी की भाँति उड़ जायेंगे।[४०] अन्तिम उर्दू कविता "तुलुए इस्लाम" में इकबाल ने भारत के मुसलमानों को यह पैगाम दिया कि वे रंग व जाति के मतभेदों को छोड़कर मिल्लत में विलीन हो जाएँ जिसमें उनमें यह भेद न रहे कि कोई ईरानी है, अफगानी है अथवा कोई तुरानी।[४१]

मुसलमानों को संगठित बनाने का दूसरा तरीका यह था कि उन्हें उनके पूर्वजों की उपलब्धियाँ याद दिलाई जाएँ। इकबाल ने नई पीढ़ी के मुसलमान नवयुवकों के नाम एक कविता लिखी जिसमें उन्हें उन्नति करने के लिए प्रेरणा दी और बताया कि वे अपने पूर्वजों की तुलना में बहुत कम महत्व रखते हैं—

तुझे आवा से अपने कोई निस्बत हो नहीं सकती,
कि तू गुफ्तार वह करदार, तू साबत वह सैयारा।[४२]

जुलाई १९०८ ई० में 'सकलिया' (सिसली द्वीप का अरबी नाम) की कविता में उन्होंने लिखा था कि वे इस्लाम के पुराने विजेताओं की कहानी सुनाकर मुसलमानों को उत्साहित करेंगे। सिसली को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं—

"रंग तस्वीर कोहन में भर के दिखलादे मुझे
किस्सा अय्यामे सल्फ का कहके तड़पादे मुझे
मैं तेरा तोहफा सूए हिन्दुस्तान ले जाऊँगा
खुद यहाँ रोता हूँ औरों को वहाँ रुलाऊँगा[४३]

अप्रैल १९०९ ई० में इकबाल ने अत्यन्त प्रभावशाली कविता "शिकवा" (शिकायत) लिखी जिसमें उन्होंने अपनी बात ईश्वर से शिकायत के रूप में कही और उस पर यह आक्षेप लगाया कि उसने अब मुसलमानों पर कृपा दृष्टि रखनी

---

३९. वही, पृ० २१६।

४०. वही, पृ० २६४।

४१. वही, पृ० ३००।

४२. वही, पृ० १९० आवा=पूर्वज, साबत=स्थिर, सैयारा=निरन्तर चलने वाला।

४३. वही, पृ० १३६। सल्फ=बीते हुए।

छोड़ दी थी। इकबाल का उद्देश्य ईश्वर पर वास्तव में आक्षेप लगाना नहीं था उनका उद्देश्य मुसलमानों की उस मानसिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करना था जिसके अनुसार वे दूसरों पर आक्षेप लगाते थे और स्वयं अपनी दुर्बलताओं का अध्ययन नही करते थे।[४४] 'शिकवा' में मुसलमानों की पददलित स्थिति का वर्णन किया गया था तथा 'जवाब शिकवा' में कमी दूर करने का मार्ग बताया गया था।

मुसलमानों की पददलित स्थिति के लिए ईश्वर से शिकायत करते हुए इकबाल कहते हैं कि मुसलमान तेरी पूजा करते हुए भी अपमानित हैं। इकबाल की प्रार्थना थी कि—

"मुश्किलें उम्मते मरहूम की आसान कर दे,
मोर बे माया को हमदोश मुलेमान कर दे,
जिन्स नायाबे मोहब्बत को फिर अर्जों कर दे,
हिन्द के देर नशीनों को मुसलमां कर दे।[४५]

इस 'शिकवा' के अन्त मे इकबाल ने मुसलमानों की कौम को जगाने का कार्य अपने लिये रख लिया था और वे भारत में रहते हुए भी अरब की प्रतिष्ठा के गीत सुनाने का वायदा करते थे—

"चाक इस बुलबुले तनहा की नवा से दिल हों
जागने वाले इसी बाँग-ए-दरा मे दिल हों
उजमी खुम है तो क्या मै तो हजाजी है मेरी
नगमा हिन्दी है तो क्या, लै तो हजाजी है मेरी[४६]

जून १९१२ ई० में अपनी कविता 'मुस्लिम' मे इकबाल ने कहा—

"यदि अहदे रफ्ता मेरी खाक को अक्सीर है
मेरा माजी मेरे इस्तकबाल की तफसीर है[४७]

(अर्थात् पुराने समय की याद मुझे जिन्दगी प्रदान करती है। मुझे यकीन है कि जो महानता पहले समय मे हमें प्राप्त हो चुकी थी वह पुन भविष्य मे प्राप्त होगी)

'जवाब-शिकवा' के माध्यम से इकबाल ने मुसलमानों को वास्तविक तथा सच्चे मुसलमान बनने की प्रेरणा दी। विश्व में मुसलमानो के पूर्वज केवल इस्लाम के सच्चे अनुयायी होकर ही विश्व मे सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके थे।

---

४४. अलताफ हुसैन . शिकवा और जवाब शिकवा, भूमिका, पृ० १३। लेखक ने दोनो कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद किया है।

४५. बांग-ए-दरा, पृ० १७७। उम्मत=इस्लामी सम्प्रदाय, अर्जो=सस्ता, मोर बेमाया=कमजोर च्यूंटी। वे मुसलमानो को अधिक मुसलमान बनाना चाहते थे। उन्होने भारत में मूर्ति-पूजा को अपना लिया था। इकबाल उसे छोड़ने का परामर्श दे रहे थे।

४६ वही, पृ० १७६। अन्तिम पद में यह बात कही गई थी।

४७. वही, पृ० २०६।

उन्हें इस बात की प्रेरणा दी गई कि वे 'वतन' से लगाव छोड़ दें और 'मोहम्मद' से लगाव बढ़ाएँ[४८] भारतीय मुसलमान पुनः प्रगति कर सकते थे यदि वे धर्म के माध्यम से संगठित हो जाएँ।[४९] इकबाल मिल्लत की एकता का गुणगान करते थे। उन्हें यह देखकर कष्ट होता था कि तुर्की समस्त इस्लामी जगत् का नेतृत्व नहीं कर रहा था। १९१२ ई० में त्रिपोली युद्ध के आरम्भ हो जाने के पश्चात् ही तुर्की की असमर्थता को देखते हुए उन्होंने लिखा था .

"चाक कर दी तुर्क नादां ने खिलाफत की कबा।[५०]

अर्थात् मूर्ख तुर्कों ने खिलाफत का चोगा उतार कर फेंक दिया है।

इकबाल के अनुसार इस्लामी मिल्लत की एकता हजरत मोहम्मद को आखिरी पैगम्बर मान लेने पर आधारित थी। मुसलमानों के इस्लाम धर्म के आधार पर संगठित हो जाने के विचार को सर्वइस्लामवाद की संज्ञा दी जाती है। इकबाल के "तराना-ए-मिल्ली" का पहला पद इस तर्क के पक्ष में प्रस्तुत किया जाता है कि वे सर्वइस्लामवाद के समर्थक थे।

"चीन व अरब हमारा हिन्दुस्तान हमारा–मुसलमान है हम सारा जहाँ हमारा" किन्तु यह अनुचित है क्योंकि उन्होंने विश्व के मुसलमानों को एक राज्य में संगठित हो जाने की बात नहीं कही थी। संगठन के लिये मिल्लत का आधार वतनियत और राष्ट्रीयता के विपरीत प्रस्तुत किया गया था। वे चाहते थे कि भारतीय मुसलमान आपसी मतभेदों को भूलकर संगठित हो जायें। लेकिन यह संगठन उनका पृथक् संगठन होना चाहिए था क्योंकि भारतीय राष्ट्रीयता के आधार पर वे संगठन को मना कर चुके थे। इसलिए संगठन का एक ही आधार शेष था और वह था इस्लाम धर्म। उनकी विभिन्न कविताएं इस बात की पुष्टि करती हैं कि इकबाल का अर्थ इस्लाम के विश्व-व्यापी तथ्यों की दुहाई देकर भारतीय मुसलमानों को भारत की अन्य कौमों से अलग करना था। इकबाल ने अपनी कुछ कविताओं में पश्चिमी एशिया और विश्व के अन्य इस्लामी देशों की संकटमय स्थिति के सम्बन्ध में लिखा था लेकिन इसका अभिप्राय मुसलमानों को उनकी दयनीय दशा से अवगत कराना था। इकबाल ने मिल्लत का आधार केवल भारतीय मुसलमानों को भारत के अन्य निवासियों से अलग करने के लिये प्रस्तुत किया था। इस सिद्धान्त का यह अभिप्राय कभी नहीं था कि समस्त इस्लामी देशों को एक साथ संगठित होने के लिये प्रेरणा दी जाय। इकबाल का लक्ष्य भारतीय मुसलमान थे न कि विश्व।

---

४८. जवाब-शिक्वा, २०वीं और २१वीं पद, बांग-ए-दरा, पृ० २२१, २२४। यह जवाब-शिक्वा १९१३ ई० में हजारों की संख्या में लाखों-लाख बिक गई और इस राशि को बलकान फन्ड में जमा कर दिया गया।

४९. बांग-ए-दरा, पृ० २१५।

५०. वही, पृ०।

के मुसलमान। इसीलिए उन्होंने अपनी बात उर्दू के माध्यम से ही कही थी। इस तर्क की पुष्टि के लिए इकबाल का खिलाफत आन्दोलन के प्रति दृष्टिकोण विशेष उल्लेखनीय है। १६१६ ई० में जब भारत में खिलाफत आन्दोलन आरम्भ हुआ तब इकबाल ने उस आन्दोलन का साथ नहीं दिया था। इसके सम्भवतः दो कारण थे। एक कारण तो उन्होंने सैयद सुलेमान नदवी को अपने निजी पत्र में लिखा था। इकबाल खिलाफत आन्दोलन को भारत के मुसलमानों की मूर्खता कहते थे और इस आन्दोलन को लन्दन के शियों द्वारा चलाया गया मानते थे।[५१] इसी पत्र में उन्होंने कुछ पंक्तियाँ लिखकर भेजी थीं जिनमें पहली पंक्ति को बदलकर बाद में "दरयोजा-ए-खिलाफत" (खिलाफत की भिक्षा) शीर्षक कविता में बांग-ए-दरा में सम्मिलित कर दिया गया। उन्होंने कहा था—

"अगर मुल्क हाथों से जाता है जाए,
तू अहकाम-ए-हक से न कर बेवफाई,
नहीं तुझको तारीख से आगाही क्या ?
खिलाफत की करने लगा तू गदाई,
खरीदें न हम जिसको अपने लहू से,
मुसलमां को है नंग वह पादशाही।[५२]

इस कविता के अन्तिम फारसी पद का अर्थ था कि मुझे हड्डी टूटने में इतनी शर्म नहीं आती जितनी उसको जोड़ने वाली दवा के माँगने में आती थी।

इकबाल इस समय तक 'असरार-ए-खुदी' और 'रमूज-ए-बेखुदी' लिख चुके थे। वे मुस्लिम समुदाय में आत्मविश्वास पैदा करना चाहते थे। वे अंग्रेजों से भीख माँगकर खिलाफत को जीवित रखने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उनके अनुसार अंग्रेज स्वयं खिलाफत के विरुद्ध थे और उसको समाप्त कराने के पक्ष में थे। अपने एक अन्य पत्र में सैयद सुलेमान नदवी को उनके यूरोप से लौट आने के पश्चात् इकबाल ने लिखा—"आपने बड़ा काम किया है जिसका बदला कौम की ओर से कृतज्ञता के रूप में मिल रहा है और ईश्वर की ओर से न मालूम किस रूप में प्रदान होगा। इंगलैण्ड के मन्त्रिमण्डल का उत्तर वही है जो ऐसी स्थिति में सदा दिया गया है।" इसके पश्चात् अरबी का एक वाक्य था जिसका अर्थ है—

"क्या हम अपने ही जैसे दो आदमियों की बात मान लें यद्यपि इनकी कौम हमारी दास है।[५३]

---

५१ सैयद सुलेमान नदवी को २७ सितम्बर १६१६ ई० को लिखा गया पत्र इकबाल नामा, भाग १, पृ० १०५-१०७।

५२. बांग-ए-दरा, पृ० २५८। अह्काम-ए-हक—इस्लामी आदेश
गदाई—भीख माँगना

५३. इकबाल का पत्र : दिनांक १० अक्टूबर १६२० ई०। रईस अहमद जाफरी : इकबाल और सियासत मिल्ली, पृ० ११६।

इस भिक्षा माँगने से मुस्लिम समुदाय की आत्मनिर्भरता का विकास नहीं हो सकता था। १९२१ ई० में अपनी एक अन्य कविता 'खिज्र-ए-राह' में इसी बात को अधिक स्पष्ट रूप से उन्होंने कहा था कि यदि मुसलमान खिलाफत की नींव को विश्व में दृढ़ता से स्थापित करना चाहते थे तो उन्हें अपने पूर्वजों की भाँति शौर्य और वीरता प्राप्त करनी चाहिए थी।[५४]

दूसरा कारण भी उन्होंने सैयद सुलेमान नदवी को अपने एक बाद के पत्र में लिखा था। वे यह नहीं चाहते थे कि मुसलमान हिन्दुओं के साथ मिलकर खिलाफत का समर्थन करें। उन्होंने खिलाफत आन्दोलन की लोकप्रियता पर टिप्पणी करते हुए लिखा था—"बज्म-ए-अगयार की रौनक अवश्य थी, लेकिन इस्लाम का हिन्दुओं के हाथ बिक जाना सहन नहीं हो सकता। अफसोस, खिलाफत वाले अपने असली मार्ग से बहुत दूर जा पड़े। वे हमको एक ऐसी कौमियत की राह दिखा रहे हैं जिसको कोई मुसलमान एक मिनट के लिए भी स्वीकार नहीं कर सकता।"[५५]

इस प्रकार इकबाल सर्वइस्लामवाद के एक मात्र प्रतीक "खलीफा" अथवा खिलाफत की सुरक्षा के लिए भी अधिक प्रयत्नशील नहीं थे। १९३३ ई० में इकबाल ने एक विस्तृत वक्तव्य इसी प्रश्न पर प्रकाशित किया था जिसमें उन्होंने कहा था—"पान इस्लामिज्म" का कोई पर्यायवाची शब्द अरबी, तुर्की अथवा फारसी भाषा में नहीं था। उन्होंने यह भी कहा कि सैयद जमालुद्दीन अफगानी ने भी विभिन्न इस्लामी राज्यों को एक राज्य में विलय हो जाने के लिए नहीं कहा था और यह भी स्वीकार किया कि तुर्की के सुल्तान अब्दुल मजीदखाँ की इस्लामी राज्यों में एकता की कल्पना राजनीतिक शतरंज की एक चाल थी। इस्लामी मिल्लत की एकता से इकबाल का अर्थ था कि भारत की मुसलमान कौम अन्य एशियाई मुसलमान कौमों की भाँति अपने आन्तरिक मतभेदों को समाप्त करके अपने में एकता स्थापित करें।[५६]

इकबाल ने वतनियत की आलोचना इसलिए की थी कि वतन को कौम का आधार माना जाता था। लेकिन इकबाल भारतीय मुसलमानों को एक पृथक् कौम कहने में संकोच नहीं करते थे। कौमियत का विचार प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् भारत में अधिक चर्चा का विषय बना हुआ था। इकबाल मुसलमानों को भारत की अन्य कौमों से पृथक् बनाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने कहा कि "मुसलमानों और विश्व की दूसरी कौमों में मौलिक अन्तर है""""हमारी कौमियत का वास्तविक सिद्धान्त एक भाषा, एक वतन, एक-से आर्थिक हित नहीं हैं बल्कि हम लोग उस

५४. बांग-ए-दरा, पृ० २६४।

५५. सैयद सुलेमान नदवी को १८ मार्च १९२४ ई० का लिखा गया पत्र। रईस अहमद जाफरी इकबाल और सियासत मिल्ली, पृ० १२०।

५६. यह वक्तव्य १९ सितम्बर १९३३ ई० को प्रकाशित हुआ था। वाहिद्, पृ० २२८-२२९।

बिरादरी मे जो हजरत मोहम्मद ने स्थापित की थी इसलिए सम्मिलित है कि हम सबके विश्वासों का स्रोत एक ही है·······इस्लाम भूमि के बन्धनो से मुक्त है·······हमारी कौमियत·······हमारे मस्तिष्क मे है वह कोई ऐसी वस्तु नहीं जो बाहर से दिखाई दे।"[४७]

१९३३ ई० मे उन्होने भारतीय मुसलमानो को एक पृथक् हिन्दुस्तानी कौम की भाँति अपने पांव पर खडा होने का प्रयत्न करने का परामर्श दिया। भारतीय मुसलमान जनसंख्या के हिसाब से शेष समस्त एशियाई देशों की मुस्लिम जनसंख्या से अधिक थे इसलिए उन्हे चाहिए कि वे अपने आप को इस्लाम की सबसे बड़ी पूंजी समझें और अपनी बिखरी हुई शक्तियों को सगठित करें।[४८]

१९३८ ई० मे व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि मनुष्यों के संगठन की दृष्टि से इस्लाम मे कोई लचक नही थी। वे स्वयं भी किसी ऐसे सिद्धान्त के साथ समझौता करने को तैयार नही थे जो इस्लाम से भिन्न हो। उनके अनुसार मुसलमान सामूहिक दृष्टि से एक व्यवस्थित एव संगठित समुदाय है जिसकी एकता और संगठन का आधार हज़रत मोहम्मद का अन्तिम पैगम्बर होना है।

वतन के स्थान पर मिल्लत के आधार पर मुसलमानो को पृथक् अस्तित्व प्रदान करके इकबाल मुसलमानों के हितों को सुरक्षित रखना चाहते थे। वतनियत और कौमियत के राजनीतिक सिद्धान्तों को उन्होंने यह कहकर अस्वीकृत कर दिया था कि वे इस्लाम की एकरूपता के सिद्धान्त को अस्वीकार करने पर आधारित थे विशेषकर भारत मे जहाँ मुसलमान अल्पसंख्यक थे।[४९] उन्होंने एक पत्र में बड़ी स्पष्टता से यह भी व्यक्त किया था कि मुसलमानों का हिन्दुओं के साथ मिलकर अंग्रेजी साम्राज्य को समाप्त करने का प्रयत्न इस्लाम के लिए लाभदायक नही हो सकता था। "भारत तो भले ही स्वतन्त्र हो जाए लेकिन मुसलमान अधीन ही रहेंगे और इस बात पर मुसलमान कभी सहमत नही होंगे क्योंकि दूसरों की अधीनता तो स्वीकार हो सकती थी लेकिन अधीनों के अधीन बनना उन्हें स्वीकृत नहीं था।"[५०]

मुसलमानों की अंग्रेज समर्थक और हिन्दू विरोधी नीति से भी इकबाल सहमत नही थे क्योंकि वे चाहते थे कि मुसलमान अपना एक पृथक् अस्तित्व स्थापित करें। उन्होंने १९३० ई० के मुस्लिम-लीग के समक्ष अपने अध्यक्षीय भाषण में इस पृथक् अस्तित्व की कल्पना को स्पष्ट किया था। उन्होंने इस्लाम को व्यक्तिगत क्षेत्र तक सीमित न रखकर सामूहिक जीवन का आधार घोषित किया था। "भारत में कई कौमे रहती थी। इसलिए पश्चिमी ढग का प्रजातन्त्र भारत के लिये उस

---

४७. मिल्लत बैज़ा पर एक उमरानी नजर-मुकवात-ए-इकबाल, पृ० ६०-६२।

४८. शामलू : हर्फ-ए-इकबाल, पृ० २२१।

४९. इकबाल का मुस्लिम-लीग के समक्ष अध्यक्षीय भाषण १९३०, मुकालात-ए-इकबाल, पृ० ३१-३२।

५०. मकतूबात-ए-इकबाल, पृ० ६१।

समय तक अनुचित था जबतक कि एक 'इस्लामी भारत' न स्थापित कर दिया जाए इसलिए मेरी इच्छा है कि पंजाब, सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान को एक ही राज्य में मिला दिया जाए चाहे यह राज्य अंग्रेजी साम्राज्य के भीतर स्वायत्ता प्राप्त करे अथवा उसके बाहर...... अम्बाला जैसे अधिकांश हिन्दू जनसंख्या वाले जिलों को पृथक् कर देने से इस राज्य के विस्तृत क्षेत्र तथा शासन प्रबन्ध की कठिनाइयों में कमी हो जायगी।"[६१]

उपरोक्त विचारों की व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे कहा कि "मैं केवल भारत और इस्लाम की भलाई के विचार से एक संगठित इस्लामी राज्य की स्थापना की माँग कर रहा हूँ। इससे भारत में शक्ति-सन्तुलन हो जाने से शान्ति स्थापित रहेगी''......भारत के मतभेदों को देखते हुए ऐसे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर दी जाए जो भाषा, जाति, इतिहास, धर्म और आर्थिक लाभ के आधार पर स्थापित हों।"[६२]

इकबाल के इस भाषण में जिस इस्लामी राज्य की कल्पना की गई थी वह प्रचलित एकात्मक अथवा संघीय प्रणाली के वाद-विवाद के सन्दर्भ में थी। इकबाल का महत्त्व इस बात में था कि उन्होंने भारतीय मुसलमानों के लक्ष्यों को एक निश्चित एवं विशिष्ट उद्देश्य पर केन्द्रित कर दिया एवं उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा अंग्रेजी राज्य के अधीन एक स्वायत्तता प्राप्त राज्य का विकल्प रखा गया था। इस भाषण में सर्वप्रथम उत्तर-पश्चिमी भारत के मुसलमानों के लिए एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य की कल्पना की गई थी जिसके स्वरूप को आवश्यकता तथा बदली हुई परिस्थिति के अनुसार ढाला जा सकता था। इस माँग को पाकिस्तान की माँग का आधार इसलिए कहा जाता है कि जिन आधारों पर इस राज्य की कल्पना की गई थी तथा जिस मिल्लत के हितों की सुरक्षा के लिए इसका औचित्य बताया गया था वे तर्क ही आगे चलकर देश-विभाजन के लिये उत्तरदायी हुए। चूँकि १९३० ई० में भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कांग्रेस ने घोषणा कर दी थी, इसलिए इकबाल ने अपने स्वतन्त्र राज्य की योजना को इस प्रकार से प्रस्तुत किया कि एक ओर तो अंग्रेजी सरकार उससे असन्तुष्ट न हो और दूसरी ओर यदि आवश्यक हो तो उसे पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य का आधार बनाया जा सके। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इकबाल ने मुसलमानों को मिल्लत के आधार पर एक कौम कहा था। इतना ही नहीं बल्कि यह भी कहा था कि "भारत में यदि कोई कौम रहती है तो वह मुसलमान ही है, हिन्दुओं को वह एकता प्राप्त नहीं हुई जो एक कौम बनने के लिए आवश्यक है।"[६३] पूर्ण स्वतन्त्रता यदि भारत को

---

६१. अध्यक्षीय भाषण मुतबात, पृ० ३६-३७।

६२. मुतबात, पृ० ३८-३९।

६३. वही, पृ० ५५।

न मिले और भारत में केवल एक संघीय सरकार ही स्थापित की जाए तो संघीय सरकार को केवल वे ही अधिकार दिये जाने चाहिए जो विभिन्न स्वायत्तता प्राप्त राज्य अपनी इच्छा से उसे सौंप दें।[६४]

इकबाल ने चेतावनी दी थी कि यदि भारत में ऐसा संविधान जो एक कौमियत के आधार पर बना होगा लागू किया गया तो भारत में पश्चिमी ढंग के प्रजातन्त्र की स्थापना का परिणाम गृह युद्ध होगा।[६५] १० वर्ष पूर्व भी उन्होंने पश्चिमी प्रजातन्त्रीय प्रणाली का मज़ाक उड़ाया था।[६६]

मुसलमानों के समक्ष लक्ष्य निर्धारित कर देना ही इकबाल ने पर्याप्त नहीं समझा था बल्कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राजनीतिक संगठन की एकता की ओर भी ध्यान केन्द्रित किया था। इस एकता के विकास में दो कठिनाइयाँ थीं— महान नेताओं का अभाव तथा मुसलमानों में आज्ञाकारिता की मनोवृत्ति का अभाव। राजनीतिक जीवन में मतभेदों को उचित रखना घातक था। उनके अनुसार इतिहास इस बात का साक्षी है कि कठिनाई के समय इस्लाम ही ने मुसलमानों को सुरक्षित रखा था न कि मुसलमानों ने इस्लाम को। वे चाहते थे कि 'पूरी इस्लामी मिल्लत एक व्यक्ति की भाँति संगठित हो जाए और सब मुसलमान एकवचन हो जाए।'[६७]

कुछ लोगों ने इकबाल की उपरोक्त कल्पना को एक कवि की 'राजनीतिक कविता' कहा था।[६८] इकबाल को सदा यह बात खटकती रही कि उनकी बात को लोगों ने बहुत ही कम समझा था। उन्होंने अपनी कब्र पर भी एक फारसी पद लिखवाया था जिसका अर्थ था कि किसी व्यक्ति ने यह नहीं पहचाना कि इस यात्री (इकबाल) ने क्या कहा, वह कहाँ से आया था और किससे क्या कहता था।

---

६४. मुनव्वात, पृ० ४२।

६५. वही, पृ० ५४।

६६. बांग-ए-दरा, पृ० २८८।

६७. मुनव्वात, पृ० ५८-५६।

६८. इकबाल ने स्वयं कई बार यह कहा था कि वे कवि नहीं थे। उनका उद्देश्य कविता करना नहीं था यह भावना उन्होंने असरार-ए-खुदी की भूमिका में भी लिखी थी और इसी प्रकार की एक घटना का वर्णन बांग-ए-दरा की भूमिका में भी है (पृ०न०म०) बांग-ए-दरा के दूसरे भाग की कविता के अन्त में कुछ गजलें दी हुई हैं उनमें से एक के अन्त में उन्होंने कहा था कि विश्व में प्रगतिशील कौमें कविताएँ नहीं करती हैं (बांग-ए-दरा, पृ० १२९)। अपनी कविताओं के माध्यम से वे मुसलमानों को जगाकर क्रियाशील बनाना चाहते थे। बांग-ए-दरा, पृ० ५८-६२, १३८, २२९-३०। उनकी विशेष प्रसिद्ध कविताएँ—शिकवा, जवाब शिकवा, शमा और शायर—इसकी और अधिक पुष्टि करती हैं।

इकबाल तत्कालीन मुस्लिम राजनीतिक सगठनो की आपसी फूट से बहुत असन्तुष्ट थे इसलिए उन्होने एक नये मुस्लिम संगठन "अपर इन्डिया कॉन्फरेन्स" की स्थापना की योजना बनाई यद्यपि किन्ही कारणो से इस कान्फरेन्स का कोई अधिवेशन कभी बुलाया नही जा सका।[६९]

इकबाल ने मुस्लिम समुदाय को संगठित करने के लिये कुछ प्रमुख आवश्यक तत्वो पर बल दिया। ये तत्त्व थे—पूर्ण संगठन, लक्ष्य एवं उद्देश्यों की एकता तथा आज्ञाकारिता।[७०] १९०४ ई० से ही इकबाल ने कौम की सुरक्षा एवं प्रगति के लिये मनुष्यो के निजी अधिकारों पर ध्यान न देने के लिये कहा था। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य के पृथक् अस्तित्व का विचार भी कौम के अस्तित्व के बिना नही किया जा सकता था। उसका जीवन भी उसका अपना नही था बल्कि कौम की मिल्कियत थी।[७१] 'शमा और शायर' मे उन्होंने कहा था—

फर्द कायम रहते मिल्लत से है तनहा कुछ नही,
मौज है दरया में और बैरुने दरया कुछ नही।[७२]

व्यक्ति का महत्त्व केवल समुदाय मे है जैसे नदी मे लहर महत्वपूर्ण होती है और नदी के बाहर कुछ भी नही होती।

१९१८ ई० में रमूज बेखुदी की प्रस्तावना मे उन्होंने लिखा था कि मिल्ली जीवन की पराकाष्ठा यह है कि कौम के व्यक्ति किसी निश्चित नियम की पाबन्दी से अपनी व्यक्तिगत भावनाओ की सीमाएँ निर्धारित करें जिससे व्यक्तिगत भेद समाप्त होकर समस्त कौम के लिये एक सामान्य भावना पैदा हो जाए।[७३] इस समस्त मसनवी मे व्यक्ति को समुदाय की अपेक्षा बहुत कम महत्त्वपूर्ण बताया गया था। १९३२ ई० मे लन्दन मे गोलमेज सम्मेलन से लौट आने के पश्चात् उन्होंने इस बात पर और अधिक बल दिया था कि सफलता के लिये प्रमुख आवश्यकता यह थी कि समस्त व्यक्तियो की संकल्प शक्ति को किसी एक लक्ष्य पर केन्द्रित कर दिया जाए।[७४]

अपने एक अन्य भाषण मे उन्होंने कहा कि व्यक्ति समुदाय के जीवन में अस्थाई क्षण के लिये है समुदाय का जीवन अपने सदस्यो के जीवन के अतिरिक्त

---

६९. १९३१ ई० में गोलमेज-सम्मेलन के कारण १९३२ ई० में कम्यूनल एवार्ड, १९३३ ई० में मुस्लिम-लीग की योजना की प्रतीक्षा और १९३४ ई० के पश्चात् इकबाल के अस्वस्थ हो जाने के कारण यह योजना सफल नही हुई। मक्तूबाते-ए-इकबाल, पृ० ५४, ६२, ६६, ९१।

७०. मुतबात-ए-इकबाल, पृ० २६-२७।

७१. मजामीन-ए-इकबाल, पृ० ३०-३९। यह निबन्ध अक्टूबर १९०४ ई० मे लिखा गया था।

७२. मजामीन-ए-इकबाल, पृ० ५४ (प्रस्तावना, रमूज-ए-बेखुदी)।

७३. बांग-ए-दरा, पृ० २०२।

७४. मुतबात, पृ० ६३।

होता है यह विचार कि कौम केवल मनुष्यों का एक समूह है मूलतः ही गलत था।[७५]

दूसरी मुख्य आवश्यकता संगठन और नेतृत्व की थी। इकबाल प्रारम्भ से ही "इन्सान-ए-कामिल" (श्रेष्ठ व्यक्ति) की आवश्यकता पर बल देते थे। इकबाल अन्य मुस्लिम विचारकों की भाँति प्रतियोगिता परीक्षाएँ तथा प्रजातन्त्रीय पद्धति के विरुद्ध थे। १९२७ ई० में उन्होंने पंजाब विधानसभा में कहा था कि "इस देश में सामान्यतः और इस प्रान्त में विशेषतः यह पद्धति अनुसरण करने योग्य नहीं है।" वे भारतीय अधिकारियों के स्थान पर अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति अधिक संख्या में चाहते थे।[७६] इस कथन पर मौलाना मोहम्मद अली ने इकबाल की तीव्र आलोचना की थी।[७७] इकबाल ने एक भारतीय कौम की कल्पना को अधिक आवाज करने वाली ऐसी मुर्गी बताया था जो अण्डे नहीं देती थी। इसलिए उस मुर्गी की भाँति इस कल्पना में भी कोई लाभ नहीं था।[७८]

वे प्रजातन्त्रीय परम्परा के विरुद्ध तो पहले से ही थे। १९२१ ई० में अपनी कविता 'खिज्र-ए-राह' में उन्होंने पश्चिमी प्रजातन्त्रीय पद्धति की वास्तविकता बताते हुए लिखा था कि यह उतनी ही निरंकुश है जितनी एकतन्त्रीय प्रणाली हो सकती है। अत्याचारी और निरंकुश प्रशासन का दानव प्रजातन्त्र की वेश-भूषा पहने हुए था। उसे स्वतन्त्रता की देवी समझना गलत था।[७९] १९३१ ई० में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि प्रजातन्त्रीय प्रशासन में उन सब दुर्बलताओं तथा इच्छाओं की अभिव्यक्ति का अवसर उपलब्ध होता है जो अन्य किसी प्रशासन में नहीं होता था।[८०] १९३२ ई० में फ्रँचाइज समिति की रिपोर्ट के सम्बन्ध में इकबाल ने निर्वाचन में विशिष्ट सुरक्षाओं की प्रशंसा की थी। १९३२ ई० में इकबाल ने अपने विभिन्न वक्तव्यों से यह स्पष्ट कर दिया था कि मुसलमान कौम में एकता स्थापित रखना कितना आवश्यक था।[८१]

सिक्खों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में इकबाल का कहना था कि उन्हें मुसलमानों के बहुमत को समाप्त करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि मुसलमान किसी भी ऐसे समझौते से सन्तुष्ट नहीं होंगे जिसके अनुसार उन्हें ५१% प्रतिनिधित्व पंजाब में उपलब्ध न हो।[८२]

---

७५. मुनव्वर, पृ० ८७-८८।
७६. शामलू : इकबाल के भाषण, पृ० ६५-६६।
७७. मजामीन मोहम्मदअली, भाग २, पृ० ५०।
७८. शामलू, पृ० ६६।
७९ बाँग-ए-दरा, पृ० २८८।
८०. शामलू, पृ० १९६।
८१. वही, पृ० १९९-४ अगस्त, १९३२ को छपा हुआ वक्तव्य।
८२. वही।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् उन्होने कहा कि यदि उन्हे निर्णय देना होता तो वे भारतीय मुसलमानो के प्रति इतना अन्याय न करते जितना साम्प्रदायिक निर्णय ने किया था। इस निर्णय के दो आधार थे प्रथम किसी बहुमत को अल्पमत मे परिवर्तित न किया जाए और दूसरे अल्पसख्यको के अधिकारो की सुरक्षा के लिए उन्हे अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। इन दोनो आधारो के अनुसार मुसलमानो को घाटा ही रहा।[८३] बंगाल मे मुसलमानो का बहुमत समाप्त हो गया था और पजाब मे भी उन्हे यह बहुमत केवल नाममात्र के लिये ही मिला था। इस निर्णय मे मुसलमानो को दिये गये अधिकारो को हिन्दुओ ने परिवर्तित करने का सुझाव रखा। इकबाल ने उसको मुसलमानो मे फूट डालने का प्रयत्न बताया।[८४] २० मार्च, १९३३ ई० को इकबाल ने अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रकाशित श्वेत पत्र की आलोचना की क्योकि मुसलमानो को सघीय सदन में २७५ मे से केवल ८२ स्थान गारन्टी किये गये थे जो मुसलमानों के साथ सरासर अन्याय था।[८५]

यहाँ एक बात और स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि इकबाल तथा अन्य मुसलमान नेताओ ने कई अवसरो पर यह कहा था कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर अंग्रेजो के विरुद्ध संघर्ष करे और काग्रेस अथवा कुछ हिन्दू नेताओ का ऐसा समझौता न करना अन्ततः मुसलमानो मे कटु भाव पैदा करता रहा। यह विचार उसी समय कुछ ठीक प्रतीत होता है जबकि उसे ऐतिहासिक सन्दर्भ में न देखा जाए और केवल किसी एक घटना पर ही ध्यान केन्द्रित कर दिया जाए क्योकि मुसलमान नेताओ की माँगे उन परिस्थितियो के साथ-साथ बदलती रही हैं जिनमें भारत को अंग्रेजी नियन्त्रण मे मुक्ति मिलने की सम्भावना रही। १९३३ ई० में वे जिन माँगों को प्रस्तुत करते थे उन्हे १९४० ई० मे अस्वीकार कर चुके थे और १९४६-४७ ई० में केवल १९४० ई० मे प्रस्तुत पाकिस्तान की पूर्ति चाहते थे। उदाहरणार्थ . दूसरे गोलमेज सम्मेलन के सम्बन्ध मे इकबाल का वक्तव्य ही लीजिये।[८६] इकबाल जहाँ एक ओर यह कहते थे कि महात्मा गाधी ने मुसलमानो की कुछ माँगो को स्वीकार नही किया। दूसरी ओर गाधीजी के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए वे यह भी कहते थे कि उनके विचार के अनुसार भारत मे एक कौमियत का विचार ही आपत्तिजनक था और मुसलमान कभी भी भारतीय कौमियत में विलीन होना स्वीकार नही करेंगे। उन्होंने यह भी आक्षेप लगाया था कि गाधीजी ने भारतीय कौमियत के विचार की अवहेलना की थी क्योकि उन्होने अछूतो को मुसलमानो मे विलय हो जाने से रोका था।[८७]

---

८३. शामलू, पृ० २०४।
८४. वही, पृ० २०८।
८५. वही, पृ० २१३।
८६. इकबाल का वक्तव्य जो ६ नवम्बर, १९३३ ई० का छपा था। शामलू, पृ० २१२-१८।
८७. वही, पृ० २१५-१६।

इकबाल ने इसी वक्तव्य में यह भी स्पष्ट किया था कि मुसलमान अपने लिए सुरक्षात्मक व्यवस्था इसलिए नहीं चाहते थे कि वे प्रजातन्त्र से भयभीत थे बल्कि इसलिए कि वे प्रजातन्त्र की आड़ में किसी भी एक धार्मिक सम्प्रदाय के आधिपत्य से बचना चाहते थे। जिस भाषण में इकबाल ने यह आश्वासन दिया था कि वे कांग्रेस के साथ समझौते के इच्छुक थे उसी में यह भी कहा था कि बहुमत वाली कौम को या तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह पूर्व में सदा अंग्रेजी साम्राज्य की प्रतिनिधि बनी रहेगी या फिर धार्मिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थिति को ध्यान में रखकर देश को इस प्रकार विभाजित करना होगा कि वर्तमान स्थिति में निर्वाचन और साम्प्रदायिक समस्या का प्रश्न ही न रहे।[८८]

१९३५ ई० का एक्ट लागू हो जाने के पश्चात् इकबाल को इस बात की चिन्ता हुई कि पंजाब में मुसलमानों का उचित प्रतिनिधित्व हो। मई १९३६ ई० में जिन्ना लाहौर में इकबाल से मिले जो उस समय पंजाब प्रान्तीय मुस्लिम-लीग के अध्यक्ष थे। पंजाब में मुस्लिम-लीग के प्रभाव को बढ़ाने के लिये इकबाल ने जिन्ना को जनसाधारण के समर्थन का आश्वासन दिलाया तथा पंजाब में मुस्लिम-लीग के प्रभाव को बढ़ाने के लिये प्रयत्न करने का आश्वासन दिया।[८९]

मई १९३६ ई० के पश्चात् ही इकबाल और जिन्ना में पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। इनमें से केवल इकबाल के पत्र उपलब्ध हैं। इन पत्रों में इकबाल ने अपने पूर्व प्रसारित विचारों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के चुनाव के लिये इकबाल यह आवश्यक समझते थे कि एक अखिल भारतीय नीति तथा योजना होनी चाहिए थी और केवल उन मुसलमानों का ही चुनाव होना चाहिए जो उस नीति से सहमत हों। इकबाल यह अनुभव करते थे कि प्रान्तीय मुस्लिम राजनीतिक दलों ने भारतीय मुसलमानों की एकता को प्रायः समाप्त कर दिया था। इसलिए एक अखिल भारतीय योजना आवश्यक थी।[९०] २५ जून १९३६ ई० को अपने पत्र में इकबाल ने जिन्ना को यह सुझाव भी भेज दिया था कि सर सिकन्दर और अहमदयार खाँ दौलताना (यूनियनिस्ट नेता) मुस्लिम-लीग में मिलने को तैयार थे किन्तु १ जुलाई, १९३६ ई० को सरफजलहुसैन की मृत्यु के पश्चात् पंजाब का नक्शा ही बदल गया और सर सिकन्दर हयातखाँ को पंजाब यूनियनिस्ट पार्टी का नेता बना लिया गया। अगले एक वर्ष से अधिक समय तक डॉ० इकबाल इस बात का प्रयत्न करते रहे कि मुस्लिम-लीग का प्रभुत्व पंजाब यूनियनिस्ट पार्टी पर स्थापित हो जाए।

---

८८. बटालवी : इकबाल के आखिरी दो साल, पृ० ३०७।

८९. यह सुझाव इकबाल ने इसलिए दिया था कि यह निर्वाचन मेनिफेस्टो में सम्मिलित किया जा सके। पत्र दि० ९ जून, १९३६। इकबाल के पत्र जिन्ना के नाम, पृ० ९-८।

९०. वही।

दूसरी समस्या जिस पर डॉ० इकबाल ने अत्यधिक ध्यान दिया था वह जवाहरलाल नेहरू का मुस्लिम जनसम्पर्क प्रोग्राम था वे इसका मुंह-तोड़ जवाब देने के लिये जिन्ना को प्रोत्साहित करते रहे।[६१] उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि मुसलमानों में कांग्रेस समर्थक भावनाएँ बढ़ रही थी वे यह भी चाहते थे कि मुस्लिम-लीग समस्त मुसलमानों की सामान्य प्रतिनिधि संस्था बन जाए तथा उसे मुसलमानों के केवल उच्च वर्गों तक सीमित नहीं रहना चाहिए।

१५–१६ अक्टूबर १९३७ ई० को जिन्ना-सिकन्दर समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार यूनियनिस्ट पार्टी और लीग में आपसी समझौता हुआ। इकबाल इस समझौते के पश्चात् यूनियनिस्ट पार्टी की नीतियों से असन्तुष्ट थे और वे जिन्ना को अधिक ठोस अथवा कठोर नीति अपनाने के लिए कहते रहे। किन्तु इकबाल अपने विचारों के अनुकूल जिन्ना को न बना सके। जिन्ना व्यवहारिक राजनीतिज्ञ थे जो सिकन्दर-जिन्ना पेक्ट के उलघनों की उपेक्षा कर देना चाहते थे। मार्च, १९३८ ई० में पंजाब मुस्लिम-लीग को अखिल भारतीय मुस्लिम-लीग ने मान्यता प्रदान नहीं की और अप्रेल १९३८ ई० में इकबाल ने अत्यन्त दुखी होकर अपने सहयोगियों को मुस्लिम-लीग के कलकत्ता विशेष अधिवेशन में भाग लेने के लिए भेजा। फलस्वरूप इकबाल के कुछ समर्थक पंजाब मुस्लिम-लीग की कार्यकारिणी में सम्मिलित कर लिये गये।

१९३७–३८ ई० में सर सिकन्दर हयातखाँ के दल के प्रति अपनाई जाने वाली नीति में इकबाल और जिन्ना में मतभेद था। यह मतभेद उसी प्रकार का था जो एक सैद्धान्तिक विचारों वाले व्यक्ति और एक व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ में हो सकता था। इकबाल यूनियनिस्ट दल से असन्तुष्ट थे क्योंकि वह मुस्लिम-लीग के प्रति निष्ठावान नहीं था। जिन्ना व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ थे जो पंजाब में मुस्लिम लीग के प्रभाव को बढ़ाने के लिए यूनियनिस्ट नेता की प्रत्येक शर्त को पूरा करना चाहते थे। इकबाल समर्थक दल कलकत्ते में से जब लौटकर लाहौर आया तो उसी दिन इकबाल की मृत्यु का समाचार मिला।[६२]

इकबाल और पाकिस्तान का विचार :

जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "डिस्कवरी ऑफ इण्डिया" में यह विचार व्यक्त किया है कि "इकबाल प्रारम्भ में यद्यपि पाकिस्तान के विचार के समर्थक थे किन्तु उन्होंने इस विचार को बेमेल और घातक होना स्वीकार कर लिया था।"[६३] जवाहरलाल ने एक अन्य लेखक एडवर्ड थोम्पसन के हवाले से यह भी कहा है कि इकबाल ने उन्हें (थोम्सन को) यह बताया था कि उन्होंने मुस्लिम-लीग के अध्यक्ष

६१. पत्र दि० २० मार्च १९३७, २२ अप्रेल १९३७, २८ मई १९३७ ई०. इकबाल के पत्र, पृ० ११-१४, पृ० १५।

६२. आशिक हुसैन बटालवी–इक़बाल के आखरी दो साल, पृ० ६४४।

६३. नेहरू . डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृ० ३७२।

होने के नाते ऐसा किया था लेकिन उन्हें पूर्ण विश्वास था कि यदि भारत विभाजित हुआ तो मुसलमान नष्ट हो जायेंगे।

एडवर्ड थोम्सन ने अपनी दो पुस्तकों में भिन्न-भिन्न प्रकार से इस घटना का वर्णन किया है। पहली पुस्तक में उन्होंने लिखा है :

"इकबाल मेरे दोस्त थे और उन्होंने इस सम्बन्ध में मेरे समस्त सन्देहों को दूर कर दिया था पहले उन्होंने इस बात पर चिन्ता प्रकट की थी कि मेरे विस्तृत देश में चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई नजर आती थी फिर उन्होंने कहा कि उनका विचार था कि पाकिस्तान हिन्दुओं, मुसलमानों और अंग्रेजी साम्राज्य तीनों के लिए विनाशकारक होगा और अन्त में उन्होंने कहा, "किन्तु मैं मुस्लिम लीग का अध्यक्ष हूँ इसलिए मेरा कर्तव्य है कि मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करूँ।"[६४]

दूसरी पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि :

"इकबाल ने.........अपनी मृत्यु से कुछ देर पूर्व जब उन्हें यह मालूम हो गया था कि उनका समय निकट आ गया है मुझे एक पत्र में बड़े दुख के साथ लिखा था कि मेरे अव्यवस्थित देश में चारों ओर विनाशकारी घटनाएँ दिखाई पड़ती है।"[६५]

एडवर्ड थोम्सन के वर्णन में कुछ अन्तर्विरोधी तत्व हैं और कुछ प्रमाणित तथ्यों के विपरीत तत्व है। उन्होंने तीन बातें कही हैं :

(१) इकबाल ने पाकिस्तान का समर्थन इसलिए किया था कि वे मुस्लिम-लीग के अध्यक्ष थे।

(२) इकबाल जीवन में एक बार ही मुस्लिम-लीग के अध्यक्ष बने थे और उस समय तक लीग का यह लक्ष्य ही नहीं था। इसके अतिरिक्त इकबाल ने अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वयं यह कहा था कि वे अपने चिन्तन के आधार पर यह लक्ष्य प्रस्तुत कर रहे थे।[६६]

(३) इकबाल के विचारों में मृत्यु से पूर्व परिवर्तन आ गया था और उन्होंने एक चिट्ठी में यह सब लिखा था।

थोम्सन महोदय का यह तर्क तथ्यों के अभाव में शायद स्वीकार भी हो जाता किन्तु इकबाल ने अपने अन्तिम दिनों में अपनी इस योजना का इतना स्पष्ट रूप प्रस्तुत किया था जितना कि शायद १९३० ई० के अध्यक्षीय भाषण में भी नहीं किया था। अपने २० मार्च, १९३७ ई० के पत्र में उन्होंने जिन्ना पर इस बात के लिए दबाव डालने का प्रयत्न किया था कि वे जवाहरलाल नेहरू की मुस्लिम सम्पर्क योजना का उचित उत्तर दें और एक पृथक् एवं निश्चित राजनीतिक इकाई के रूप

---

६४. एडवर्ड थोम्सन : एनलिस्ट इण्डिया फॉर फ्रीडम, पृ० २० (१९४०)।

६५ एडवर्ड थोम्सन : एथिकल आइडियल्स इन इण्डिया टुडे, (१९४२)।

६६. शामलू, पृ० १८।

मे भारतीय मुसलमानों के उद्देश्य को स्पष्ट करें।[६७] २८ मई, १९३७ ई० को पुनः आपने लिखा""""*"प्रश्न यह है कि मुस्लिम निर्धनता की समस्या को किस प्रकार हल किया जाय ?*""""इस्लामी विधि प्रणाली का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यदि इन नियमो को ठीक प्रकार से समझा जाए तथा लागू किया जाए तो प्रत्येक व्यक्ति (मुसलमान) को जीवन-निर्वाह के साधन उपलब्ध हो सकते हैं किन्तु इस देश मे इस्लामी शरियत (विधि प्रणाली) को उस समय तक लागू नही किया जा सकता जबतक कि एक या एक से अधिक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य न हों"""भारत मे शान्ति स्थापित रखने का यही एक साधन है यदि यह असम्भव है तब एकमात्र विकल्प गृह-युद्ध है जो वास्तव मे कुछ समय से मुस्लिम उपद्रवो के रूप मे चल रहा है""""यह आवश्यक है कि भारत का नए सिरे से विभाजन हो और एक या एक से अधिक ऐसे राज्य स्थापित किये जाएँ जहाँ मुसलानो को पूर्ण बहुमत हो। *क्या आप अनुभव नही करते हैं कि इस प्रकार की माँग प्रस्तुत करने का समय आ चुका है।"*[६८]

इकबाल ने अपने २१ जून, १९३७ ई० के पत्र मे पुनः लिखा था :

"ऐसी स्थिति मे यह पूरी तरह स्पष्ट है कि भारत मे शान्ति स्थापित रखने का एकमात्र उपाय यह है कि देश को धार्मिक, जातीय और भाषाई सिद्धान्तो के अनुसार विभाजित कर दिया जाये। बहुत से अंग्रेज राजनीतिज्ञ भी इस बात को अनुभव कर रहे है। मुझे याद है कि इंगलैण्ड में लॉर्ड लोथियन ने मुझ से कहा था कि मेरी योजना भारत की समस्याओ का एकमात्र हल थी""""उत्तर-पश्चिमी भारत और बंगाल के मुसलमानों को पृथक् कौमे क्यो न समझा जाय जिन्हे आत्मनिर्णय का उसी प्रकार अधिकार उपलब्ध हो जिस प्रकार भारत में और भारत के बाहर *अन्य कौमो को उपलब्ध है।*[६९]

उपरोक्त पत्रो की उपस्थिति मे यह कहना अनुचित है कि इकबाल ने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व अपने विचार बदल दिये थे।

---

६७. इकबाल के पत्र जिन्ना के नाम, पृ० ६२।

६८. वही, पृ० १६-१८।

६९. इकबाल के पत्र, पृ० २१-२२।

६

अबुल कलाम आजाद

(१८८८–१९५८)

भारतीय मुसलमान नेताओं में मौलाना अबुल कलाम आजाद अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। यद्यपि उन्होंने भी मुसलमानों को इस्लाम और कुरान के आधार पर संगठित होने की शिक्षा प्रदान की थी लेकिन जहाँ अन्य नेता (जैसे इकबाल और मोहम्मद अली) मुस्लिम पृथक्कतावादी बन गए वहाँ मौलाना आजाद राष्ट्रवादी बने रहे। उनका राष्ट्रवादी विचारों का समर्थक बने रहना इस बात का प्रमाण है कि मुस्लिम पृथक्कतावादी विचार केवल इस्लाम धर्म पर ही आधारित नहीं थे।

मौलाना आजाद का जन्म १८८८ ई० में मक्का में हुआ था। उनके पूर्वजों के विषय में बहुत कम ज्ञान उपलब्ध है। मौलाना ने अपने पूर्वजों के विषय में लिखा है कि उनके परिवार में तीन प्रसिद्ध परिवारों का मिश्रण था। ये तीनों परिवार भारत और अरब के प्रसिद्ध परिवारों में थे।[1] किन्तु एक आधुनिक शोध ग्रन्थ में उनके इस कथन की परीक्षा की गई है जिसमें मौलाना आजाद का कथन संदिग्ध प्रतीत होता है।[2] श्री मुशीर उलहक के अनुसार मौलाना आजाद उन लोगों की तो आलोचना करते थे जो अपने पूर्वजों की प्रशंसा किया करते थे किन्तु स्वयं वे इस दोष से मुक्त नहीं थे। मौलाना को यह भी मालूम था कि लोगों में उनके प्रतिष्ठित वंश के बारे में विभिन्न भ्रान्तियाँ प्रचलित थीं और उन्होंने उन्हें फैलने दिया।[3]

मौलाना आजाद ने किसी कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। उनकी समस्त शिक्षा घर पर ही हुई थी क्योंकि उनके पिता का पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली में कोई विश्वास नहीं था। परम्परागत शिक्षा सामान्यतः २०-२१

---

१. अबुल कलाम आजाद : तजकिरा, पृ० ३ (उर्दू संस्करण)।

२ मुशीर उलहक : मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मोडर्न इण्डिया, पृ० ५०-६५।

३. वही, पृ० ६५।

वर्ष की आयु तक पूरी हो पाती थी लेकिन मौलाना ने यह शिक्षा १६ वर्ष की आयु तक ही पूरी कर ली थी।[४] १९४२ ई० में अहमदनगर जेल से अपने एक पत्र मे उन्होने लिखा था कि जो शिक्षा उन्हे प्रारम्भिक जीवन में उपलब्ध हुई थी वह प्रत्येक प्रकार से दोषपूर्ण थी। यद्यपि उनके चारों ओर वातावरण पुरानी परम्परा को प्रोत्साहन देने वाला था किन्तु उनके मन में 'शका' उत्पन्न हो गई थी और वे यह अनुभव करने लगे थे कि ज्ञान और वास्तविकता कुछ और भी थी। पुरानी परम्परा पर आधारित विश्वास डगमगा गये थे उस समय यह शका क्यों उत्पन्न हुई थी इसका स्पष्ट उत्तर वे १९४२ ई० में देने मे असमर्थ रहे थे[५] इतना अवश्य है कि अपने १६ सितम्बर १९४३ के पत्र में मौलाना आजाद ने १९०५ ई० की एक घटना का वर्णन किया है जो विशेष ध्यान देने योग्य है। उन्हे गायन विद्या का शौक पैदा हो गया था और वे घंटो अपने घर मे बाहर सितार पर अभ्यास किया करते थे। यह अभ्याम चोरी-छिपे किया जाता था। सम्भवतः गायन कला के प्रति रूढ़िवादी पारिवारिक वातावरण उनके मन में शंका उत्पन्न कराने के लिये उत्तरदायी रहा हो।[६] किन्तु १९५६ ई० मे लिखवाई गई आत्मकथा में उन्होने इन शंकाओ का स्रोत सर सैयद अहमदखाँ के लेखो का अध्ययन बताया था।[७]

१९०८ ई० मे अबुल कलाम आजाद मिस्र, तुर्की, फ्रास आदि देशो की यात्रा पर गये किन्तु अपने पिता की बीमारी का समाचार सुनकर उन्हें शीघ्र ही लौट आना पड़ा।

मौलाना के बचपन मे ही खानदानी धार्मिक प्रतिष्ठा के कारण बहुत से अनुयायी उपलब्ध हो गए थे जो उनकी युवावस्था में ही उनके हाथ पाँव चूमते थे।[८] वे अपने राजनीतिक जीवन में भी इस प्रकार की प्रधानता तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे। यद्यपि उन्हे इस उद्देश्य मे कोई विशेष सफलता नही मिली।

मौलाना आजाद ने जुलाई १९१२ ई० मे "अलहिलाल" नामक साप्ताहिक

---

४ मौलाना आजाद, इण्डिया विन्स फ्रीडम, पृ० २।

५ मौलाना आजाद गुब्बार-ए-खातिर, पृ० १२३-१२५। यह पत्र उन्होंने अहमदनगर दुर्ग की जेल से अपने मित्र नवाब सदर यार जग मौलाना हबीब उररहमानखाँ शेरवानी रईस भीकमपुर जि० अलीगढ़ के नाम १२ अक्टूबर १९४२ ई० को लिखा था।

६ यह पत्र गुब्बार-ए-खातिर में अन्तिम है। यह सबसे लम्बा पत्र है और इसी में औरंगजेब और जीनआवदी के प्रेम का भी वर्णन किया गया है। पृ० २८७-२८६।

७. मौलाना आजाद : इण्डिया विन्स फ्रीडम, पृ० २-३। यह कथन विश्वसनीय प्रतीत नही होता क्योंकि उनके विचार सर सैयद अहमदखाँ द्वारा चलाये गये आन्दोलन के प्रति बहुत कटु थे, जैसा आगे बताया गया है।

८. गुब्बार-ए-खातिर, पृ० १०६।

पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया।[९] इस पत्र के प्रकाशित करने का मुख्य उद्देश्य तथा वास्तविक अभिप्राय यह था कि मुसलमानो को अपने समस्त कार्यों तथा विश्वासों में केवल कुरान और हज़रत मोहम्मद के बताए हुए मार्ग पर चलना चाहिए। यदि कोई मुसलमान अपने किसी भी कार्य अथवा विश्वास के लिए कुरान के अतिरिक्त किसी अन्य शिक्षा अथवा संस्था को अपना मार्ग-दर्शक बनाएगा तो "वह मुस्लिम नहीं बल्कि मुशरिक है"[१०] अलहिलाल में मुसलमानों के धार्मिक विचारों और विश्वासो से सम्बन्धित टिप्पणी की जाती थी। मौलाना आजाद मनुष्य के कार्यों के प्रत्येक अंग को धर्म की दृष्टि से ही देखते थे। उनके अनुसार इस्लाम मनुष्य के लिए एक पूर्ण नियम लेकर आया था और मनुष्य के कार्यों का कोई क्षेत्र ऐसा नही है जिसके लिये वह आज्ञा प्रदान न करता हो।[११] जब किसी व्यक्ति ने आज़ाद से उनके राजनीतिक सिद्धान्तो के विषय मे पूछा तब उन्होंने कहा कि "हमने अपने राजनीतिक विचार भी धर्म से ही सीखे हैं, वे न केवल धार्मिक रग मे रगे हैं बल्कि धर्म द्वारा पैदा किये गये हैं·······हमारे विश्वास मे प्रत्येक ऐसा विचार जो कुरान के अतिरिक्त और किसी स्थान से प्राप्त किया गया हो कुफ्र के समान है।"[१२] राजनीतिक नीतियों के लिये न तो वे सरकार के दरवाजो पर झुकने के लिये कहते थे और न हिन्दुओं पर भरोसा करने की आवश्यकता बताते थे। वे मुसलमानो के जीवन के समस्त विभागों के लिये इस्लाम को अत्यन्त उच्चकोटि का नियम मानते थे। उनका तर्क था कि यदि ऐसा न होता तो वह दुनिया का अन्तिम और विश्वव्यापी धर्म न हो सकता था।

वे मुसलमानों को राजनीतिक क्षेत्र में पृथक् और स्वतन्त्र बनाना चाहते थे। उनके अनुसार मुसलमानों के लिए इससे बढ़कर अपमानजनक और कोई बात नही हो सकती थी कि वे दूसरों की राजनीतिक शिक्षाओं के आगे झुककर अपना मार्ग निश्चित करें। उन्हे किसी दल मे सम्मिलित होने की आवश्यकता नही थी। मुसलमानो को अपने में सम्मान, स्वाभिमान तथा शक्ति पैदा करनी चाहिए।[१३]

१९५७ ई० में मौलाना आजाद ने अपनी आत्मकथा मे यह कहा था कि १९०८ मे वे बंगाल के क्रान्तिकारियों के प्रति आकर्षित हुए थे और ईरान, मिस्र तथा तुर्की के क्रान्तिकारियो से अपनी विदेश यात्रा के समय मिलकर उनके क्रान्तिकारी

---

९. अपनी आत्मकथा लिखते समय शायद उन्हें गलत ध्यान रहा कि जून १९१२ मे यह पत्र प्रकाशित किया गया था। इण्डिया विन्स फ्रीडम, पृ० ६।

१०. अलहिलाल, ८ सितम्बर, १९१२। मज़ामीन अबुल कलाम आजाद (सम्पादक : बद्र उल हसन) भाग २, पृ० २५।

११. मज़ामीन, भाग २, पृ० १६।

१२ वही।

१३ वही, पृ० २५-२६।

विचार पक्के हो गये थे।[१४] किन्तु सितम्बर १९१२ के अलहिलाल में उन्होंने इसके विपरीत ही लिखा था। उनका कहना था : 'मुसलमानों के प्रयत्न षड्यन्त्रों से पूरी तरह दूर होंगे........इसलिए जो लोग देश में उपद्रव फैलाते हैं वे अराजकतावादी चाहे हिन्दू हों अथवा अन्य धर्मावलम्बी समुदाय, हमारा कर्तव्य होना चाहिए उनसे दूर रहें। यदि हम सच्चे मुसलमान हों तो हमारे हाथ में कुरान होगा और जो हाथ कुरान से रुका हुआ होगा वह बम या गोला या रिवाल्वर नहीं पकड़ सकता।"[१५]

मौलाना आजाद ने १९५७ ई० में अपनी आत्मकथा में यह कहा कि वे सर सैयद के लेखों एवं विचारों से प्रभावित हुए थे, किन्तु १९१२ ई० में उनका राजनीतिक कार्यक्रम अलीगढ़ आन्दोलन के नेताओं के विरुद्ध था और वे मुस्लिम लीग के नेतृत्व तथा कार्यक्रम से अत्यन्त असन्तुष्ट थे। सर सैयद के कार्यों एवं आन्दोलन का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने दिसम्बर १९१२ ई० में लिखा कि जब हिन्दुओं ने अपनी समस्त शक्तियों को देश के संघर्ष के लिए समर्पित कर दिया और वे देश की स्वतन्त्रता की आग सुलगा रहे थे तब मुसलमान शिक्षा की एक ठंडी लाश लिये बैठे थे। उन्होंने केवल अपने ही हाथ पाँव नहीं तोड़े बल्कि चाहा कि जिनके हाथ पाँव हैं उनको भी अपना-सा लूला-लंगड़ा बना दें। उनके कानों में जादू का एक मन्त्र फूंक दिया गया था कि 'समय नहीं आया' और वे देश की उन्नति के मार्ग में एक रोड़ा बनकर पड़ गए।[१६] अपने १९१२ ई० के एक निबन्ध में उन्होंने मौलाना मोहम्मद अली की नीतियों की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि अलीगढ़ कॉलिज के विद्यार्थी होते हुए भी उन्होंने अलीगढ़ के नेताओं का विरोध किया और उन्हें विवश होकर अलीगढ़ से बाहर रहना पड़ा। आजाद को यह विश्वास हो गया था कि खुदा ने मोहम्मद अली को अलीगढ़ से इसलिए उठा लिया कि इस घर की दीवारों से मूर्ति पूजा के निशान मिटा दिये जायें। आजाद को १९१२ ई० में यह आशा थी कि अलीगढ़ कॉलिज के प्रांगण में जो पीढ़ी तैयार हो रही थी उसका प्रत्येक सदस्य अलीगढ़ की ढाली हुई दासता की जंजीरों को अलीगढ़ की भट्ठी में डालकर जलाएगा और उससे वह साधन तैयार होंगे जो दासता की मूर्तियों को तोड़ेंगे।[१७] आजाद का अनुमान गलत निकला।

उस समय तक मुसलमानों की एकमात्र राजनीतिक पार्टी मुस्लिम लीग थी। आजाद इस पार्टी से बहुत असन्तुष्ट थे क्योंकि इस दल की राजनीति का वृक्ष अलीगढ़ की भूमि से बोया गया था। आजाद के अनुसार अलीगढ़ के वृक्ष की जड़ में घुन

---

१४ आजाद : इण्डिया विन्स फ्रीडम, पृ० ६।

१५ अलहिलाल, ८ सितम्बर, १९१२ मजामीन-ए-आजाद, भाग २, पृ० २८-२९।

१६. अलहिलाल, १८ दिसम्बर, १९१२ मज़ामीन, भाग २, पृ० ११२।

१७. अकील अहमद जाफरी मकालमात अबुल कलाम, पृ० २५०-२५२।

पहले से ही लगा हुआ था। यह घुन सर सैयद द्वारा संचालित आन्दोलन ही था।[१८] उनका पहला आक्षेप तो यह था कि पॉलिटिक्स में न तो कौम की कोई नीति थी न कोई राय। केवल कुछ प्रभावशाली लोग थे जो अपने महलों में बैठकर नीति बना लिया करते थे और फिर समस्त कौम की आँखों पर पट्टी बाँध कर उनके हाथों में छड़ी पकड़ा देते थे जिससे वे कोल्हू के बैल की भाँति उनके बनाए हुए मार्ग पर चलते रहते थे। मौलाना आज़ाद को लीग में दूसरा दोष यह दिखाई पड़ा कि लीग ने मुसलमानों को सरकार पर भरोसा करने की नीति सुझाई थी।[१९] तीसरा दोष यह था कि उसने राजनीति को धर्म से अलग कर दिया था। मौलाना आज़ाद का कहना था कि मुसलमानों की सब नीतियों की असफलता का कारण ही यह था कि वे इस्लाम धर्म से दूर थी।[२०] लीग ने अपने पिछले ६ वर्षों के कार्यों से राजनीति का ऐसा अपमान किया जैसा किसी कौम ने कभी नहीं किया था। मौलाना आज़ाद ने लीग को परामर्श दिया था कि वह हिन्दू बहुसंख्यकों का भय दिल से निकाल दे। उनका कहना था कि शक्ति केवल संख्या पर निर्भर नहीं करती। वे चाहते थे कि राजनीति संचालन का नियन्त्रण दौलत के हाथों से निकालकर दिमाग को सौंप दें क्योंकि सम्पत्ति वाले लोग सिर से लेकर पाँव तक जंजीरों में लिपटे हुए होते थे।[२१]

मौलाना आज़ाद मुसलमानों को पृथक् संगठित करना चाहते थे।[२२] उनके अनुसार दूसरी कौमों के उदाहरण को अपने समक्ष रखना कुछ विशेष लाभदायक नहीं हो सकता था। उन्हें केवल अपने ऊपर दृष्टि रखनी चाहिए थी। यदि वे केवल 'कुरान' के बताए हुए मार्ग पर चले तो उन्हें वैभव और प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकेगी। उनका मत था कि यदि मुसलमानों ने अपने लिए एक स्वतन्त्र नीति तैयार करली, कांग्रेस से भी उत्तम प्रोग्राम उनके हाथ में हुआ, आयरलैण्ड के नागरिकों से भी बढ़कर उत्साह और सरगर्मी पैदा करली, एवं उनका प्रत्येक व्यक्ति ग्लैडस्टन और मोर्ले हो गया, लेकिन उन्होंने इसके साथ अपने विश्वासों और कार्यों में इस्लाम की क्रियाशील आत्मा जागृत न की और स्वयं को ईश्वरीय धर्म के अधीन नहीं किया तो इससे मुसलमानों को कोई लाभ नहीं पहुँचेगा।[२३] आरम्भ में कुछ लोगों ने उन्हें राजनीति को धर्म से अलग रखने के लिये कहा, लेकिन मौलाना आज़ाद का प्रत्युत्तर यह था कि उन्होंने तो अपने राजनीतिक विचार भी धर्म से ही सीखे थे। वे मुसलमानों

१८. शोरिश काश्मीरी (सम्पादक) : खुतबात-ए-आज़ाद, पृ० ३१५।

१९. अलहिलाल, २२ तथा २९ सितम्बर, १९१२, मज़ामीन, भाग २, पृ० ४२-४३।

२०. अलहिलाल, ६ अक्तूबर, १९१२, मज़ामीन, भाग २, पृ० ६१।

२१. अलहिलाल, १८ दिसम्बर, १९१२ मज़ामीन-ए-आज़ाद, भाग २, पृ० १२८-१२९।

२२. उन्होंने हिज्बुल्ला नाम से दल का गठन भी किया था जिसका वर्णन आगे किया गया है।

२३ अलहिलाल, १६ अक्तूबर, १९१२, मज़ामीन, भाग २, पृ० ७१। आज़ाद अपने इस विचार को देववाणी कहते थे।

को अलहिलाल के माध्यम से केवल मुसलमान बना देना चाहते थे।[२४] उनका विश्वास था कि यदि मुसलमान इस्लाम के बताए हुए मार्ग पर चलेंगे तो वे एक शक्तिशाली समुदाय बना सकेंगे।

आजाद केवल इतना ही नहीं चाहते थे कि मुसलमान जनता मुस्लिम लीग के नेतृत्व से अलग हो जावे। वे उन्हे कांग्रेस से भी अलग रहने की शिक्षा देते थे।[२५] उनकी शिक्षा थी कि वे स्वयं को इस्लाम पर छोड़ दें। उनकी नीति केवल कुरान का पालन होनी चाहिए क्योंकि उनकी समस्त आधुनिक बीमारियों का मूल कारण कुरान का पालन न करना था।[२६] आजाद यह समझते थे कि आधुनिकतम परिवर्तनों के लिये कुरान से साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते थे। इस समय वे मुसलमानों की कौमियत को किसी जाति, वंश या पृथ्वी के भौगोलिक विभाजन से सम्बन्धित नहीं समझते थे। उनके समस्त कार्यों का आधार केवल इस्लाम धर्म था। यूरोप में 'नेशन' शब्द के माध्यम से हजारों व्यक्तियो को सरलता से प्रभावित किया जा सकता था, लेकिन मुसलमानो को प्रभावित करने का एकमात्र साधन इस्लाम अथवा खुदा का नाम था।

मौलाना आजाद का अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति दृष्टिकोण अन्य मुस्लिम नेताओं से भिन्न था। दिसम्बर १९१२ ई० में उन्होंने लिखा कि भारत एक कृषि प्रधान देश था। इसकी सम्पत्ति इंग्लैण्ड के पेट मे भरती जा रही थी और इस प्रकार हज्म हो जाती थी कि 'और भूख है' का नारा सुनाई देता था। रेलवे के विस्तार के इंग्लैण्ड को ठेके दिये जा रहे थे ताकि वह धन एकत्र करे किन्तु भारतीयों को अन्न छूने की अनुमति न थी क्योंकि 'तुम गद्दार हो'। देश की समस्त सम्पत्ति ७०,००० गोरे सिपाहियों को सोना और चाँदी खिलाकर लुटाई जा रही थी, किन्तु देश के निर्धन काले लोग शिक्षा और स्वास्थ्य सुरक्षा के प्रबन्ध से वंचित थे। नमक भी मिलता था तो छुँगी देकर और शिक्षा भी मिलती थी तो घरबार बेचकर।" फिर राज्य की बागडोर अपने हाथ मे लेते हुए प्यार भरे शब्दो मे वादा किया गया कि रंग, भाषा और शासक प्रजा का कोई भेद नही है जो मार्ग अपने लिए है वह सबके आगमन के लिये सुरक्षित है, लेकिन जब पांव उठे और चलना आरम्भ किया तो समस्त द्वार बन्द थे और इंग्लैण्ड का प्रत्येक निवासी शासक-प्रजा के भेद से पूर्णतया प्रभावित था।"[२७]

---

२४. अकील अहमद जाफरी (सम्पादक) : मकालमात अबुल कलाम, पृ० २१-२३।

२५. अलहिलाल, १६ तथा २३ अक्तूबर, १९२२, मजामीन, भाग २, पृ० ७८-८१।

२६ वही।

२७ अलहिलाल, १८ दिसम्बर, १९१२। लेख का शीर्षक था - भारत की स्वतन्त्रता और मुसलमान। मजामीन अबुलकलाम आजाद, भाग २, पृ० १११-११२। यह निबन्ध अलग से भी छपे हैं। इसमे न० २, भाग १, पृ० ८-९, सम्पादक मुख्तार अहमद, मेरठ।

मौलाना आजाद इस समय यह नहीं मानते थे कि मुसलमान अंग्रेजों की कूटनीति के शिकार हुए थे। उनका कहना था कि अंग्रेजी सरकार को अपने हितों को दृढ़ करने के लिए एक बड़ी बलि चाहिए थी। यह बलि थी कि कोई एक कौम देश को छोड़कर उसके साथ हो जाए और अपने देश के उद्देश्यों के पेड़ों की उनकी आशाओं को बलि के रक्त से सिंचाई करें। मुसलमानों ने स्वयं अपने-आपको इस बलिदान के लिये प्रस्तुत कर दिया।[28] वे इसी समय चाहते थे कि लीग का उद्देश्य इंग्लैण्ड के अधीन भारत को स्वायत्तता उपलब्ध कराना बन जाए।[29] १९२३ ई० में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में अंग्रेजी साम्राज्य की वास्तविकता के विषय में उन्होंने कहा था कि "वह अपने स्वरूप में ही अन्याय पर आधारित था। वह इसलिए स्थापित नहीं था कि उसमें आन्तरिक शक्ति थी बल्कि केवल इसलिए कि हमने अपनी लापरवाही से उसका समर्थन किया था। अन्याय उसकी आदत थी इसलिए उसकी शिकायत से कोई लाभ नहीं होगा। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि वह समाप्त हो जाए।"[30] आजाद अन्य मुसलमान नेताओं से भिन्न यह भी कहते थे कि देश की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करना हिन्दुओं के लिये देश भक्ति में सम्मिलित हो सकता था, लेकिन मुसलमानों के लिये तो एक धार्मिक कार्य है और जिहाद में सम्मिलित था।[31]

अलहिलाल के माध्यम से मौलाना आजाद ने अपने लिए मुसलमानों में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। अप्रैल १९१३ ई० में मौलाना ने अलहिलाल में एक नये दल के गठन का विज्ञापन दिया। इस दल का नाम था "हिज़्बुल्लाह" (ईश्वर का दल)। मौलाना ने इस सगठन की योजना को गुप्त रखा था इसके सदस्यों से सम्बन्धित एक रजिस्टर मौलाना के पास था; लेकिन १९१६ ई० में बन्दी बना लिये जाने के पश्चात् वह रजिस्टर उनसे ले लिया गया था। मौलाना के बन्दी रहने के समय उन सब सदस्यों के यहाँ खुफिया पुलिस द्वारा तलाशी ली गई जिनके नाम और पते इस रजिस्टर में थे।[32] सम्भवतः इन सदस्यों की संख्या अधिक नहीं थी।[33]

१९१५ ई० में अलहिलाल पत्र को सरकारी आदेशों के अनुसार बन्द करना पड़ा। अलहिलाल के बन्द हो जाने पर मौलाना आजाद ने "अलबलाग" नामी साप्ताहिक पत्र निकाला। इस पत्र में भी उसी प्रकार के विषयों पर निबन्ध होते

---

२८. मजामीन, भाग २, पृ० ११६।
२९. वही, पृ० १२३-१२४।
३०. खुतबात, पृ० २२०।
३१. अलहिलाल, १८ दिसम्बर, १९१२, मजामीन भाग २, पृ० १३२।
३२. गुलाम रसूल महर . नक्शे-आजाद, पृ० ३।
३३. मुशीर उलहक का अनुमान है कि सदस्यों की संख्या आरम्भ में ८०० के लगभग थी। अन्तिम संख्या के बारे में कुछ निश्चित कह पाना कठिन था। मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मॉडर्न इण्डिया, पृ० ८९-९१।

थे जैसे अलहिलाल में। मौलाना का यह दृढ़ विश्वास था कि कुरान ने विश्व की समस्त सच्चाइयों के साथ राजनीति को भी अपने अन्दर समेट रखा है।[३४] सच्चे धर्म का प्रमुख उद्देश्य सच्ची राजनीति की स्थापना था। प्रत्येक विदेशी सत्ता जब किसी देश अथवा सम्प्रदाय की शक्ति निर्बल करना चाहती है तो वह उसमें पहले फूट डाल देती है।

एक अन्य निबन्ध में व्यंगात्मक शैली में उन्होंने मुसलमानों से कहा कि वे पैगम्बर के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिये सम्मेलन आदि का आयोजन तो अवश्य करते थे, किन्तु उनके बताए हुए मार्ग पर बिलकुल नहीं चलते थे। वे मुसलमानों के पतन का प्रमुख कारण यही मानते थे कि एक ईश्वर, एक पैगम्बर और एक पवित्र पुस्तक में विश्वास रखने वाले विभिन्न वर्गों और संगठनों में विभक्त हो गए थे।[३५] अलीगढ़ कॉलिज में शिया विद्यार्थियों की धार्मिक शिक्षा के अनुचित प्रबन्ध का परिणाम यह हुआ कि एक शिया कॉलेज की योजना बनाई गई। मौलाना का इस पर यह कहना था कि शिया अनुयाइयों की शिकायत तो उचित ही थी पर अलीगढ़ में किसी भी धार्मिक शिक्षा का कोई सन्तोषजनक प्रबन्ध ही नहीं था। मौलाना के शब्दों में वहाँ धर्म के नाम पर कुफ्र की शिक्षा दी जाती थी। अलीगढ़ कॉलिज के प्रबन्धकों का प्रस्तावित शिया कॉलिज की स्थापना का विरोध अनुचित था। मौलाना विभिन्न इस्लामी कॉलिजों के पक्ष में थे। वे यह चाहते थे कि इन कॉलिजों के पहले "शिया" अथवा "सुन्नी" न लगाया जाए।[३६] १९१६ ई० में मौलाना आजाद को बंगाल छोड़कर आना पड़ा और उन्होंने बिहार में राँचि में रहना आरम्भ किया। शीघ्र ही उन्हें राँची में कैद कर लिया गया। १९२० ई० तक वे जेल में ही रहे। और १९२० ई० में जेल से छूटने के पश्चात् वे खिलाफत आन्दोलन के समर्थन में लग गए। फिर भारत में राजनीतिक घटनाओं का क्रम कुछ इतनी तीव्र गति से चला कि उन्हें हिज्बुल्लाह को पुन जीवित करने का अवसर ही न मिला।

मौलाना आजाद अलहिलाल के माध्यम से मुसलमानों को केवल कुरान द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलाना चाहते थे और मुसलमानों को आपसी हमदर्दी और सहानुभूति का पाठ पढ़ाना चाहते थे। उनका कहना था कि मुसलमान इस बात का स्मरण रखें कि वे भारत में हो या चीन में उनके "मिल्ली" (धार्मिक तथा कौमी) सम्मान की सुरक्षा केवल तुर्की खिलाफत के राजनीतिक अस्तित्व का ही परिणाम था। जिस दिन वह केन्द्र अपने स्थान से हटा तो मुसलमान भी यहूदियों की भाँति हो जायेंगे। इस्लाम की ओर से प्रत्येक मुसलमान का यह धार्मिक कर्त्तव्य था कि जिस

---

३४. मज़ामीन अलबलाग, पृ० १२।

३५. वही, पृ० २२१-२४७।

३६ मज़ामीन अलबलाग, पृ० २७४-२७६।

समय किसी इस्लामी देश पर आक्रमण हो तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति, अपनी वाणी तथा अपने जीवन को बलिदान करने के लिये तैयार रहे। इस समय मौलाना आज़ाद ने 'अलीगढ़ आन्दोलन के दोष स्पष्ट करते हुए कहा कि भारतीय मुसलमानों ने ओटोमन तुर्की से सम्बन्ध विच्छेद करके कुफ्र (अंग्रेज सरकार) को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था।[३७]

अगले दो वर्षों तक इस प्रकार के विभिन्न निबन्ध लिखने के पश्चात् भी मौलाना आज़ाद को मुसलमानों में जागरण का अभाव दिखाई पड़ा। कलकत्ते में अक्तूबर १९१४ ई० में भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि इस्लाम के समक्ष वतन, स्थान, भाषा आदि के भेद वास्तविक नहीं थे। मुसलमानों के लिए समस्त विश्व उनका था।[३८] उन्होंने मराको और तुर्की के मुसलमानों के कष्टों के प्रति भारतीय मुसलमानों में सहानुभूति पैदा करनी चाही। तुर्कों के प्रशासन के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ बड़ी उदार थी। उनका कहना था कि तुर्कों ने जिस उदारता के साथ पाँच सदियों तक यूरोप में राज्य किया था उसका प्रमाण इससे बढ़कर क्या हो सकता था कि अधीन इसाईयों की धार्मिक और कौमी भावनाएँ उतनी ही प्रबल रहीं जितनी किसी धर्मान्ध ईसाई राज्य के अधीन रह सकती थी। भारत में अंग्रेजों का अधिकार सौ वर्ष भी पूरे नहीं कर पाया था और इतने ही समय में कौमी महानता और कौम परस्ती की भावनाएँ इन लोगों के दिल से समाप्त हो गयी थीं। यही एकमात्र अन्तर तुर्क और ईसाई प्रशासन के भेद को समझने के लिए पर्याप्त था।[३९] वे समझते थे कि इस्लाम के लिए मुसलमानों का कोई प्रयत्न जो स्थानीय अथवा देशीय आधार पर होगा, लाभदायक नहीं हो सकता था। वे यूरोपीय लेखकों और आलोचकों द्वारा प्रस्तुत सर्व इस्लामवाद (पैन इस्लामिज्म) को उनके मस्तिष्क के बाहर नहीं पाते थे। यदि पैन इस्लामिज्म का वास्तविक अस्तित्व होता तो क्या यह सम्भव था कि ईरान मराकों, ट्रिपोली में मुसलमानों की वह स्थिति होती और मुसलमानों के हृदय में सहानुभूति के भाव न उमड़ते।[४०] उनका कहना था कि यूरोप के राजनीतिज्ञ इस पैन इस्लामिज्म का भयावह चित्र प्रस्तुत करके मुसलमानों के दिलों से वास्तविक इस्लाम प्रेम को समाप्त करना चाहते थे। वे अलीगढ़ आन्दोलन द्वारा प्रस्तुत अलीगढ़ विश्वविद्यालय की योजना को वास्तविक सर्व इस्लामवाद के मार्ग में एक बाधा समझते थे। उनका कहना था कि यदि भारत के मुसलमानों में से प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित और धनवान भी हो गया, किन्तु

---

३७. अलहिलाल, ६ नवम्बर, १९१२, सिलसिला मज़ामीन अबुल कलाम आज़ाद, नं० ३, पृ० २८-३३।

३८. खुतबात, पृ० १३।

३९. फारकलीत : अफकार-ए-आज़ाद, पृ० ८६-८८।

४०. खुतबात, पृ० २०-२१।

इस्लाम की राजनीतिक शक्ति पर छुरी चल गई तो फिर भारत के मुसलमान किस वस्तु पर गौरव करेंगे।[४१]

अप्रैल १९१३ ई० के एक निबन्ध में मुसलमानों को तुर्की की पराजय से हताश होने से रोकने के लिये उन्होंने कहा था कि इस्लाम की शक्ति तथा अस्तित्व तुर्कों के साथ नहीं जुड़ा हुआ था। यदि तुर्कों की शक्ति समाप्त हो भी गयी तो क्या अपने खुदा की शक्ति पर मुसलमानों को विश्वास नहीं रहा।[४२] उनके उत्तेजनात्मक लेखों के सम्भावित परिणामों से चिन्तित होकर सरकार ने उन्हें १९१६ ई० में बन्दी बना लिये और प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् जनवरी १९२० में उन्हें मुक्त कर दिया गया। फरवरी १९२० ई० में उन्हें बंगाल प्रान्त की खिलाफत सभा की अध्यक्षता का सम्मान प्राप्त हुआ। इस भाषण में मौलाना ने इस्लामी व्यवस्था में खिलाफत के स्वरूप तथा महत्त्व को स्पष्ट किया था। इस्लामी खलीफा का अस्तित्व ईसाइयों के पोप से किस प्रकार भिन्न था। ईसाइयों के पोप की भाँति वह एक दैवी और धार्मिक नेता नहीं था। वह केवल राजनीतिक कार्यों में प्रधान का पद था।[४३] खलीफा केवल शरियत और उम्मत की सुरक्षा करने वाला और शरियत के नियमों को लागू करने वाला था। यदि धार्मिक मतभेद की कोई स्थिति पैदा हो तो खलीफा का आदेश अन्तिम निर्णय के समान नहीं था, बल्कि कुरान और सुन्ना का वर्णन अन्तिम निर्णय के समान था।[४४] उन्होंने खिलाफत के तीन चरण बताए थे। पहला चरण हजरत मोहम्मद की मृत्यु पर और दूसरा प्रथम चार खलीफाओं के पश्चात् समाप्त हो गया। उसके पश्चात् समस्त खलीफा केवल राजनीतिक अधिकारी ही थे।

इस प्रकार खलीफा का सीमित अर्थ निर्धारित कर देने के पश्चात् उस पद का महत्त्व इस बात में था कि वह सामूहिक जीवन के लिये एक केन्द्र मात्र था। उन्होंने इस्लामी व्यवस्था में "जमाअत" पर अत्यधिक बल दिया। "जमाअत" (समूह) से उनका अभिप्राय एक संगठित व्यवस्था से था जिसका नेतृत्व किसी एक व्यक्ति अथवा नेता को उपलब्ध हो। इस व्यवस्था का बिखर जाना ही अज्ञान का सूचक था। इस "जमाअत" के महत्त्व को उन्होंने बहुत अधिक विस्तार से बताया था। उनका कहना था कि जो व्यक्ति "जमाअत" से अलग हो गया वह इस्लाम से बाहर हो गया।[४५] इस सामूहिक व्यवस्था पर बल देने में मौलाना आजाद काफी आगे तक बढ़ गए। उनका कहना था कि सब मुसलमान कुरान की आज्ञाओं का पालन करें। मुसलमानों को अपनी वाणी तथा बुद्धि को बन्द रखना चाहिए। उनका कार्य

---

४१. वही, पृ० २३।

४२. मजामीन अबुल कलाम आजाद, भ० २, भाग १, पृ० ३७।

४३. मुतबात, पृ० ११७।

४४. वही, पृ० १६२, फारूकीत : अफकार-ए-आजाद, पृ० ६५-६६।

४५. मुतबात, पृ० १६६, १७८-१७९।

केवल आज्ञापालन ही होना चाहिए। आज़ाद यह नहीं चाहते थे कि प्रत्येक मुसलमान व्यक्तिगत रूप से यह सोचे कि वह खिलाफत के लिए क्या करे। वे यह उत्तरदायित्व केवल एक योग्य व्यक्ति को ही सौंपना चाहते थे।[४६] इस्लाम की कौमियत एक शरीर की भाँति थी और इसके अनुयाइयों की तुलना एक दीवार से की जा सकती थी। इस्लाम की कौमियत दीवार का नाम है विभिन्न ईंटों का नहीं।[४७] इसीलिए वे एक नेता के नेतृत्व की बात अधिक कहते थे।

बंगाल खिलाफत कॉन्फ्रेन्स के अध्यक्षीय भाषण में मौलाना आज़ाद ने उस परिवर्तन और निराशा की घोषणा की जो उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण थी। उन्होंने कुछ कटु और स्पष्ट बातें भी मुसलमानों को सम्बोधित करते हुए कहीं :

"अफसोस कि तुम वास्तविक और सच्ची बात कहने वालों को पसन्द नहीं करते। तुम, दिखावे के पुजारी, तात्कालिक भावनाओं और अस्थायी तथ्यों से प्रभावित हो जाते हो। तुम में न परख है, न भेद जानने की क्षमता। न तुम जानते हो न पहचानते हो। तुम जितना तेज़ दौड़कर निकट आते हो उतनी ही तेज़ी के साथ भाग भी जाते हो। तुम्हारी आज्ञाकारिता जितनी सरल है और तुम्हारी संकल्प शक्ति जितनी सस्ती है उतना ही तुम्हारा मुँह मोड़कर विरोध करना भी सरल है इसलिए न तुम्हारी प्रशंसा का कोई मूल्य है न तुम्हारे अपमान का, न तुम्हारे पास दिमाग न दिल। केवल भावनाएँ हैं जिनको तुम विचार समझते हो। तुम्हारी शंकाएँ हैं जिन्हें तुम संकल्प कहते हो.......अफसोस कि तुममें कोई नहीं जो मेरी भाषा समझता हो तुममें कोई नहीं जो मेरा मूल्य पहचानता हो। मैं सच कहता हूँ कि तुम्हारे इस पूरे देश में मैं एक बिना मित्र हूँ सारे वतन में एक पराया व्यक्ति जैसा हूँ।"[४८]

मौलाना आज़ाद ने १९२० ई० में प्रथम अखिल भारतीय खिलाफत कॉन्फ्रेन्स की अध्यक्षता की। अक्तूबर १९२१ ई० में उन्होंने यू. पी. की प्रान्तीय खिलाफत सभा की भी अध्यक्षता की थी। उस समय उन्होंने कहा कि खिलाफत आन्दोलन का प्रथम सफलता क्षेत्र भारत के भीतर था।[४९] इस आन्दोलन को सारे देश का आन्दोलन बनाकर इसका प्रभाव अत्यन्त व्यापक रहा। इस अवसर पर मौलाना आज़ाद ने मुसलमानों को हिन्दुओं के साथ मैत्री करने के लिये कहा। कुरान की धाराओं का अर्थ बताते हुए उन्होंने कहा कि विश्व में दो प्रकार की कौमें रहती हैं।[५०] वे गैर

---

४६. वही, पृ० १७६-१७७।

४७. वही, पृ० १४७।

४८. वही, पृ० १८१-१८३।

४९. वही, पृ० ४७।

५०. वही, पृ० ३८।

पड़ा, अकेले ही जाना पड़ा किसी मार्ग में भी समय के अनुकूल चलने वालों का साथ न दे सका।"[५७]

उन्होंने सामान्य लोगों को भीड़ की संज्ञा दी थी। उनका कहना था कि भीड़ मूर्खों की ही रहेगी।[५८] १९२१ ई० में उन्होंने 'पैगाम' के प्रकाशन का प्रबन्ध किया। यद्यपि कांग्रेस द्वारा मुसलमानों के खिलाफत आन्दोलन का समर्थन ठीक था, किन्तु मौलाना आजाद १९२१ ई० में भी यह अनुभव करते थे कि मुसलमानों में विशेषतः कार्य करने की प्रेरणा पैदा करने के लिए कांग्रेस का प्रबन्ध अपर्याप्त था चूंकि वह एक राजनीतिक संस्था थी जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। इसलिए उसकी आवाज मुसलमानों पर अधिक प्रभाव नहीं डाल सकती थी।[५९] उनका विश्वास था कि कांग्रेस कमेटी किसी नगर में ५० सभाओं में यदि मुसलमानों से यह कहे कि वे चरखा चलाएँ और सूत कातें तो भी उसका वह प्रभाव नहीं होगा जो जुमवार के दिन मस्जिद में एक धार्मिक भाषण से हो सकता था।[६०]

१९२१ ई० में मोहम्मद अली और अन्य मुसलमान नेताओं को बन्दी बना लिया गया था। मौलाना को इस बात पर आश्चर्य और खेद भी रहा कि जिस प्रस्ताव के कारण मोहम्मद अली को बन्दी बना लिया गया था उन्हें क्यों बन्दी नहीं बनाया गया।[६१] १९२३ ई० में १५ दिसम्बर को इण्डियन नेशनल कांग्रेस का स्पेशल अधिवेशन दिल्ली में हुआ जिसकी अध्यक्षता मौलाना अबुल कलाम आजाद को सौंपी गई। इस अध्यक्षीय भाषण में यह स्पष्ट हो गया कि मौलाना आजाद अन्य मुस्लिम नेताओं से भिन्न विचार रखते थे। यह मौलिक अन्तर निम्नलिखित विचारों में था।

(१) वे अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के तर्क को बहुत कम महत्व देते थे।

(२) उनके अंग्रेजी साम्राज्य के स्वरूप के विषय में उसी प्रकार के विचार थे जैसे अन्य राष्ट्रवादी नेताओं के थे।

(३) महात्मा गांधी और असहयोग आन्दोलन के सिद्धान्त के प्रति उनका विश्वास अधिक गहरा था और मार्ग में आई हुई रुकावटों को वे क्षणिक

---

५७. गुब्बार-ए-खातिर, पृ० ११६-११७। १२ अक्टूबर, १९४२ ई० का पत्र। मौलाना को अपने विक्षिप्त होने का पूरा अनुभव था।

५८. गुब्बार, पृ० १७५, पत्र दिनांक १७ दिसम्बर, १९४२।

५९. मौलाना अबुल कलाम आजाद के ताजा मजामीन, १९२१। अबुलकलाम आजाद के मजामीन, नं० १४। पृ० १६।

६०. मौलाना अबुल कलाम आजाद के ताजा मजामीन, नं० १४ पृ० १९।

६१. ताजा मजामीन, १९२१, पृ० ४०-४२।

मान लेते थे और नये प्रयत्न करने के लिये तैयार रहते थे।[६२]

(४) प्रजातन्त्र के प्रति अधिक सक्रिय दृष्टिकोण था तथा वे यह चाहते थे कि मुसलमान आन्दोलन केवल सम्पन्न और सामन्ती नेताओं के हाथों में ही न रहे बल्कि सामान्य जनता उसमें भाग ले। इसलिए वे प्रजातन्त्र के समर्थक थे।

(५) मौलाना आज़ाद ने हिज़्बुल्लाह दल का गठन तो किया था, किन्तु १९१६ ई० में जब वे रांची जेल में बन्द थे तब उन्होंने यह सुना था कि मुसलमान तेजी से कांग्रेस में सम्मिलित हो रहे थे। उन्हें इस बात का खेद था कि मुसलमानों ने उनकी बात नहीं सुनी थी।[६३] आज़ाद को यह अत्यन्त कष्टदायक लगा और इसीलिए फरवरी १९२० ई० में बंगाल की खिलाफत कॉन्फ्रेन्स में उन्होंने मुसलमानों को बहुत बुरा भला कहा। यह उनका स्वभाव था कि जिस ओर वे चल दिये फिर उसमें किसी मोड़ की सम्भावना सरलता से नहीं होती थी।

इन कारणों से मौलाना आज़ाद यद्यपि आरम्भ में खिलाफत के प्रश्न पर मौलाना मोहम्मद अली जैसे विचार रखते थे, लेकिन वे भारतीय राजनीति में मोहम्मद अली के साथ अधिक दूर तक न जा सके। आज़ाद कुछ मामूली मतभेद रखते हुए भी अनुशासन पर अत्यधिक बल देते थे। उन्होंने १९२१ ई० में जमैयतउलउलमा के अधिवेशन में नेताओं के अनुशासन में रहने की बात कही थी। उनका कहना था "सम्भव है कि कमाण्डर ने आदेश देने में गलती की हो। सिपाही उससे भिन्न मत रख सकता है, किन्तु विरुद्ध कदम नहीं उठा सकता। यदि हमारे कमाण्डर का आदेश गलत भी हो जब भी हमें उस रेजिमेंट की भाँति, जिसके विनाश पर टैनिसन (अंग्रेज़ी कवि) ने कविता लिखी, समाप्त हो जाए, लेकिन आज्ञा उल्लंघन न करें"[६४] उन्होंने कांग्रेस प्रोग्राम का पूरी तरह समर्थन किया और १९१२ ई० में जो कुछ उन्होंने कहा था उसको भूल गए और यहाँ तक कहने लगे कि उन्होंने मुसलमानों को पृथक् राजनीतिक दल बनाने से मना किया था।

समय व्यतीत होने के साथ-साथ मौलाना आज़ाद के स्वभाव में काफी

---

६२. मोहम्मद अली ने बारदोली के निर्णय को 'सम्बन्ध विच्छेद बिन्दु' मान लिया था। आज़ाद इस घटना को अपनी लम्बी यात्रा की एक साधारण रुकावट मान लेते थे। जो कुछ लोगों को पहले और दूसरों को बाद में पेश आती थी। सुनवात, पृ० २३३। आज़ाद को उस निर्णय पर खेद तो अवश्य था, लेकिन उन्होंने इसे एक नये संघर्ष के लिये भूमिका तैयार करने के लिये मध्यान्तर मात्र माना था (पृ० २५)। इसके सम्बन्ध में मतभेद को एक छोटा मतभेद माना था जो सैद्धान्तिक नहीं था (पृ० २५३-२५४)।

६३. अध्यक्षीय भाषण, १९२३ : सुनवात पृ० २६३।

६४. सुनवात, पृ० २२६।

परिवर्तन आ गया था। १९३७ ई० में जब उनके सम्बन्ध में समाचार पत्रों मे कुछ अधिक टिप्पणियाँ और आलोचना हुई तो उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया।

"यदि मेरे स्वभाव की वही स्थिति होती जो उस समय थी जब अलहिलाल निकलता था तो यह (उनसे सम्बन्धित पत्रों मे प्रकाशित वर्णन) इतना स्पष्ट झूठ है कि न मालूम किसी वक्तव्य में मेरी कलम से किस सीमा तक कठोर वाक्य उस व्यक्ति के विषय मे निकल जाते, किन्तु अब मेरी स्थिति दूसरी है। कोई व्यक्ति कितना ही बुरा कार्य करे मैं उसे जनता के समक्ष बुरा भला कहना पसन्द नही करता।[६५]

१९२७–२८ भारतीय राजनीति में एक निर्णायक मोड है। उस वर्ष लखनऊ मे सर्वदलीय सम्मेलन हुआ था। सम्मेलन के पश्चात् मौलाना शौकत अली ने उस सम्मेलन के निर्णयों के विरुद्ध प्रचार आरम्भ किया। मौलाना आजाद भी इस सम्मेलन में उपस्थित थे उन्होंने हिन्दू मुस्लिम समझौते की कठिनाइयों के एक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए कहा कि "कुछ नेताओं का यह सिद्धान्त है कि जहाँ किसी थोड़ी-सी बात पर मतभेद हुआ और हमारी (शौकत अली की) बात न मानी गई तुरन्त कलम उठाया और कौम के विनाश और विरोधी मत वालों (मुसलमानों) के ईमान बेचने की घोषणा करदी"[६६] उनसे सहयोग मे एक बडी बाधा थी यदि उन नेताओं की बात मान ली जाए तो मुसलमानों का भाग्य उछलकर आकाश से जा टकराए न मानी गई तो तुरन्त डूब जाए। भावनाओं की इसी अनियन्त्रित अभिव्यक्ति ने सार्वजनिक जीवन को नष्ट कर रखा था कुछ नेताओं के भावपूर्ण आवेशात्मक भाषणों ने लोगों को सन्तुलित नीति न अपनाने पर विवश किया था।[६७]

लखनऊ सम्मेलन मे पंजाब के प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में पास किए हुये प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया था, लेकिन पंजाब के नाम पर शौकत अली ने इसका विरोध किया। २९ अगस्त को जवाहरलाल नेहरू ने यह भी घोषणा करदी थी कि जिस विधान पर समझौता हुआ था वह उसके पूर्ण रूप से लागू होने की स्थिति में ही था। यदि उसके किसी सिद्धान्त मे परिवर्तन हुआ तो पुन सहमति लेना आवश्यक हो जावेगा। इस घोषणा को मौलाना आजाद अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते थे क्योंकि इसमे शौकत अली और मोहम्मद अली की आपत्तियों का उत्तर मिल गया था।

१९३० ई० के पश्चात् भारतीय राजनीति मे समाजवाद की विचारधारा आकर्षक हो गई थी। मौलाना आजाद ने इस बात के बताने का प्रयत्न किया कि इस्लामी व्यवस्था मे समाजवाद से भी उत्तम प्रबन्ध किया गया था। १९३४ के अन्तिम दिनों में मौलाना आजाद ने बालीगंज कलकत्ते की मस्जिद मे शुक्रवार की नमाज का 'इमाम' बनना स्वीकार किया। उन्होंने अपने बहुत से मुतबों मे जकात से सम्बन्धित

---

६५ मह्र नक्श-ए-आजाद, पृ० ११२।

६६ फारकलीत अफकार-ए-आजाद, पृ० १५-१६।

६७. फारकलीत, पृ० १५-१६।

विचार व्यक्त किए। एक मुसलमान को अपनी वार्षिक बचत में से २½% कर देना होता था जिसे इस्लाम में जकात कहते हैं। इस कर की समस्त आय गरीबों और असहाय लोगों में बाँट दी जाती थी। प्रत्येक मुसलमान जकात तो अवश्य देता था, लेकिन वह निजी रूप से उसे खर्च कर देता था। मौलाना आजाद चाहते थे कि जकात की राशि सामूहिक रूप से खर्च की जाए।[६८] इस सामूहिक व्यवस्था के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा लोगों के अपने व्यक्तिगत नाम और प्रतिष्ठा की थी वे इस बात की आवश्यकता समझते थे कि जकात एक प्रबन्धक के अधीन हो।

वे इस व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था से उत्तम मानते थे। उनके अनुसार इस्लाम में सम्पत्ति का संग्रह कुछ व्यक्तियों के हाथों में नहीं होना चाहिए। "समाजवाद चाहता था कि सम्पत्ति तथा धन का समान विभाजन हो, लेकिन इस्लाम यह नहीं कहता, इस्लाम केवल यह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास धन हो। इस्लाम बराबरी का अधिकार तो स्वीकार करता है, लेकिन समान मात्रा स्वीकार नहीं करता।"[६९] आजाद के अनुसार आपस के आर्थिक भेद और ऊँच नीच की समस्या का (जिसने यूरोप और अमरीका के विद्वानों को परेशान कर रखा था) सबसे सरल और प्रभावशाली इलाज इस्लाम के अधीन जकात के प्रबन्ध में उपस्थित था। "समाजवादी और कुरान की व्यवस्था दोनों का उद्देश्य यह है कि अधिक धन एकत्र करने की मानवीय इच्छा से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर किया जाए। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि इस्लाम धन कमाने से सम्बन्धित अन्तर को स्वाभाविक मानता है जबकि समाजवाद इसको ऐसा नहीं मानता।"[७०] समाजवाद और इस्लाम में एक यह भी अन्तर था कि समाजवाद व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर कौमी स्वामित्व स्थापित करना चाहता था।[७१] मौलाना आजाद ने कुरान के आधार पर मुसलमानों का गठन करना चाहा। उन्होंने कुरान के पुराने अर्थ के स्थान पर नया अर्थ बताया, किन्तु वे मुसलमानों में बहुत लोकप्रिय नहीं बन सके। १९२० से १९४२ ई० तक विभिन्न अवसरों पर वे यह बात कहते रहे कि उनकी कोई नहीं सुनता था।[७२] मौलाना अबुल कलाम की दुर्बलता का मुख्य कारण यह ही था कि उनके द्वारा प्रतिपादित कुरान का अर्थ मुसलमानों में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका था।

यद्यपि मौलाना आजाद ने भारतीय मुसलमानों को कुरान और इस्लाम के आधार पर संगठित होने के लिए कहा था, लेकिन अपने समकालीन अन्य मुसलमान

६८. अनवर आरिफ (सम्पा.) : आजाद की तकरीरें, पृ० ८।

६९. वही, पृ० १०-११।

७०. फारकलीत : अफकार-ए-आजाद, पृ० १९२-१९३।

७१. वही, पृ० १९५।

७२. अनवर आरिफ (सम्पा.) : आजाद की तकरीरें। यह बात उन्होंने २२ मार्च, १९४२ ई० के जमीयत उलउलमा के अधिवेशन में कही। पृ० १४३ (१९४२) तथा पृ० ६९ (१९३४-३५)। मुतबात, पृ० १८१ (१९२०)।

नेताओं की भाँति वे एक साम्प्रदायिक नेता नहीं बने। इसका मूल कारण यह था कि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक का प्रश्न मौलाना आज़ाद को वास्तविक मार्ग से नहीं हटा सका। उन्होंने १९१२ ई० में ही लिखा था :

'हिन्दू बहुसंख्या का भय भी खुदा के लिये दिल से निकाल दीजिये। यह सबसे बड़ा शैतानी विचार था जो मुसलमानों के दिलों में बिठाया गया था। शक्ति केवल संख्या पर नहीं बल्कि अन्य बातों पर निर्भर है। वास्तविक वस्तु कौम की आन्तरिक शक्ति है जो उसके चरित्र, उसकी एकता और श्रेष्ठ आदर्शों से प्रभावित होती है। इस्लाम की शक्ति कभी भी अल्पसंख्या अथवा बहुसंख्या के साथ जुड़ी हुई नहीं है और अब भी जिन लोगों के दिलों में इस्लाम हो वहाँ बहुसंख्या बिलकुल प्रभावहीन है।"[७३]

मौलाना साम्प्रदायिक स्थिति का विश्लेषण करके इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि आपसी मतभेद इसलिए थे क्योंकि देश के समक्ष कोई उच्च आदर्श नहीं था। उनका कहना था कि यदि एक आकर्षक एवं सुन्दर लक्ष्य लोगों के समक्ष हो तो मार्ग से नहीं भटका जा सकता। इसलिए उन्होंने "आज़ादी" के लक्ष्य को प्रस्तुत किया। उनका कहना था कि "यदि जीवन की इच्छा है तो कठिनाइयों से घबराना बेकार है, क्योंकि कठिनाइयाँ जीवित और क्रियाशील व्यक्तियों के लिये ही होती हैं, एक निर्जीव शव के लिये नहीं होती हैं। (जिनको) विश्राम की इच्छा है, तो उनके लिये सबसे अच्छा स्थान कब्र है। बैठे रहोगे तो निश्चिय ही ठोकर नहीं लगेगी पर जब चलोगे तो ठोकरें खाना आवश्यक है।"[७४]

मौलाना आज़ाद इस्लामी पद्धति को प्रजातान्त्रिक मानते थे। मुसलमानों को प्रजातन्त्र के पक्ष में आन्दोलन करने वालों में सबसे आगे होना चाहिए था क्योंकि कुरान में लिखा था कि उनका राज्य आपसी परामर्श से होना चाहिए।[७५]

इसलिए हिन्दू मुस्लिम समस्या के प्रति भी मौलाना आज़ाद का दृष्टिकोण भिन्न था। वे हिन्दू मुस्लिम एकता पर अत्यधिक बल देते थे। वे इस एकता को भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष के लिए पहली भूमिका मानते थे। अपने १९२३ ई० के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के समक्ष कहा :

'आज यदि आकाश से एक फरिश्ता दिल्ली की कुतुबमीनार... [illegible] होकर यह घोषणा करे कि स्वराज्य २४ घण्टों में मिल सकता है यदि भारत में हिन्दू

---

७३ अलहिलाल, १८ दिसम्बर, १९१२ सिलसिला मज़ामीन अबुल कलाम आज़ाद 'नं० २' भाग १ (सम्पादक मुश्ताक हुसैन) पृ० १८। १९४० ई० में अपने अध्यक्षीय भाषण में भी उन्होंने यही बात दोहराई थी। खुतबात, पृ० ३०८-३०९।

७४ वही, पृ० २१।

७५ इस विषय पर मौलाना आज़ाद ने ६ सप्ताहों तक 'अलहिलाल' में लेख आदि लिखे थे। जुलाई १९१३ से सितम्बर १९१३ तक मकालात अलहिलाल पृ० १८३-२१६।

मुस्लिम एकता समाप्त कर दी जाय तो मैं स्वराज्य छोड़ दूंगा, लेकिन यह एकता नहीं छोड़ूंगा।"[७६]

इस समय मौलाना आज़ाद ने १९१२ ई० के प्रोग्राम में एक परिवर्तन कर दिया था और वह यह था कि उन्होंने मुसलमानों के लिये पृथक् संगठन की आवश्यकता छोड़ दी थी। उनका पीछे यह कहना गलत था कि वे १९१२ ई० से पृथक् संगठन के विरुद्ध थे।[७७] १९२३ ई० में जब भारत में हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगे अधिक हो गये थे तो उस समय मौलाना आज़ाद का दृष्टिकोण कहीं अधिक बुद्धिमानी का था। उन्होंने यह स्वीकार किया था कि कई स्थानों पर साम्प्रदायिक उपद्रव हुए थे किन्तु भारत जैसे देश में जहाँ करोड़ों व्यक्ति रहते हों जहाँ अनुचित धर्मान्धता को भड़काना कठिन न हो ऐसी घटनाएँ असंभव नहीं हो सकती थी। इसका उचित उपचार यह ही था कि देश के अन्य भागों में साम्प्रदायिकता को भड़कने न दिया जाए।[७८] वे ऐसी स्थिति में 'शुद्धि' और 'तन्ज़ीम' और 'तबलीग' के आन्दोलन को स्थगित करने की बात कहते थे।

१९४० ई० में उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में साम्प्रदायिक समस्या को स्वीकार तो किया, लेकिन उन्होंने कहा कि इसका अर्थ केवल यह नहीं होना चाहिए कि इसे भारतीय राष्ट्रीय अधिकारों के विरुद्ध एक शस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाए। उनका विचार था कि भारतीय मुसलमानों की संख्या ८-९ करोड़ है और इतनी बड़ी संख्या को एक राजनीतिक अल्पसंख्या कहना उचित नहीं था। उनके अनुसार इतनी बड़ी संख्या प्रजातन्त्रीय भारत में अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने में असमर्थ नहीं हो सकती थी। यह ८-९ करोड़ की संख्या अन्य वर्गों की भाँति विभिन्न गुटों में बँटी हुई नहीं थी।[७९] वे मुसलमानों को भारतीय कौम का एक आवश्यक भाग समझते थे। यह संगठित राष्ट्रीयता विभाजित नहीं की जा सकती थी।

---

७६. खुतबात-ए-अबुल कलाम आज़ाद पृ० २६१। आज़ाद का कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण, दिसम्बर १९२३।

७७ वही, पृ० २६३।

७८. वही, पृ० २६४।

७९. वही, पृ० ३१०।

७

मोहम्मद अली जिन्ना

(१८७६-१९४८)

२०वी सदी के मुस्लिम विचारकों तथा नेताओं में मोहम्मद अली जिन्ना का विशिष्ट स्थान है। प्राचीन इस्लामी परम्परा और कुरान के सिद्धान्तों की दुहाई न देकर केवल 'नेशन' के पश्चिमी अर्थ को भारतीय मुस्लिम सम्प्रदाय पर चरितार्थ करने में जिन्ना की सफलता अद्वितीय थी। तीव्र विरोध के होते हुए भी जिन्ना ने अपने तर्क को उचित सिद्ध करने के लिए मुस्लिम सम्प्रदाय का गठन आश्चर्यजनक सफलता के साथ किया। यद्यपि मुस्लिम सम्प्रदाय के पृथक् गठन के लिए ऐसा तो शायद ही कोई तर्क था जो उसके पूर्व मुस्लिम नेताओं ने प्रस्तुत न किया हो फिर भी जिन्ना का महत्त्व उन तर्कों को साकार सिद्ध कर देने में था। उर्दू शब्द 'कौम' को केवल 'नेशन' के अर्थों मे प्रयोग करना और उसके आधार पर भारतीय मुसलमानों के लिए प्रभुत्वसम्पन्न पृथक् राज्य की मांग करना जिन्ना का ही कार्य था। इस प्रकार की मांग मोहम्मद इकबाल ने भी प्रस्तुत की थी, लेकिन उस समय मुख्य प्रश्न एक भारतीय संघ की स्थापना का था जिसमे विभिन्न प्रान्तो अथवा राज्यो को स्वायत्तता मिलने की सभावना थी। इसलिए उस समय पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का लक्ष्य एक विकल्प के रूप मे ही प्रस्तुत किया गया था। जिन्ना ने भारतीय मुसलमानों के लिए भारत मे एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की मांग प्रस्तुत की और वे उसे प्राप्त करने मे सफल रहे।

जिन्ना का जन्म करांची में १८७६ ई० मे हुआ था। माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्हे बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैण्ड भेजा गया। १८९६ ई० मे वापस आने पर उन्होंने बम्बई मे वकालत आरम्भ की। तीन वर्षों तक उन्हें इस कार्य मे कोई सफलता नहीं मिली। इस समय मे वे बम्बई के कार्यवाहक एडवोकेट जनरल, जोन मोल्सवर्थ मेकफरसन, के कार्यालय में व्यस्त रहे। १९०० ई० मे उन्हे कुछ समय के लिए नौकरी मिल गई। उसके पश्चात् जिन्ना ने निजी वकालत प्रारम्भ की। वे एक सफल वकील सिद्ध हुए।

इस प्रारंभिक काल में जिन्ना का सम्पर्क विभिन्न प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं से हुआ। बम्बई में अधिकांश वकील हिन्दू तथा पारसी थे। मुसलमान सदस्य बहुत कम थे। उस समय के सफल वकीलों में जिन्ना की गिनती की जाती थी। वे गोखले फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नारोजी आदि प्रमुख नेताओं के संपर्क में आए। १६०६ ई० में जिन्ना नेशनल कांग्रेस के सदस्य बन गए। उन्होने कुछ समय तक दादाभाई नोरोजी के निजी सचिव के रूप में भी कार्य किया था।

मिन्टो मोर्ले सुधारों के अधीन १६१० ई० में नई कौंसिलो के गठन में वायसराय ने जिन्ना को इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया। अप्रैल १६१३ ई० में जिन्ना कुछ समय के लिए इंग्लैण्ड चले गए। वहाँ उन्होने एक केन्द्रीय विद्यार्थी संघ की स्थापना की जिससे भारतीय विद्यार्थी परस्पर अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर सकें। वही पर मुस्लिम लीग के दो प्रमुख सदस्यों (मौलाना मोहम्मद अली और सैयद वजीर हसन) ने जिन्ना को मुस्लिम लीग का सदस्य बना लिया।[1] दिसम्बर १६१३ में कांग्रेस के करांची अधिवेशन मे जिन्ना ने भाग लिया था इस प्रकार जिन्ना अन्य मुस्लिम सदस्यो की भांति इस समय कांग्रेस तथा लीग दोनो संस्थाओं के सदस्य थे।

१६१४ ई० मे कांग्रेस द्वारा इण्डिया कौंसिल प्रस्ताव का विरोध करने के लिए इंग्लैण्ड भेजे गये शिष्ट मण्डल मे जिन्ना सम्मिलित थे। १६१६ ई० में उन्हें मुस्लिम लीग का अध्यक्ष चुना गया था और लखनऊ समझौता सम्पन्न हुआ था। वे उन १६ सदस्यों मे सम्मिलित थे जिन्होंने एक स्मरण पत्र अंग्रेज सरकार को सुधारो के सम्बन्ध में दिया था।

जिन्ना इस समय बम्बई के एक सफल वकील थे और अन्य नेताओं की भांति वे भी उत्तरदायी प्रजातन्त्रीय प्रणाली के विकास पर बल दे रहे थे। १६१८ ई० में वे मोंटफोर्ड प्रस्तावों को पर्याप्त सुधार नहीं समझते थे। उन्होंने उत्तरदायित्व प्रशासन को केन्द्र में भी स्थापित करने के लिये कहा था।[2] १६१८–१६ ई० में विभिन्न अवसरों पर जिन्ना ने केन्द्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में सरकार की निरकुश नीति, प्रेस पर प्रतिबन्ध, रौलेट एक्ट आदि की आलोचना की थी। मार्च १६१६ के तीसरे सप्ताह मे रौलेट एक्ट पास हो गया था और जिन्ना ने इसके विरोध मे केन्द्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल से अपना त्यागपत्र दे दिया। इस त्यागपत्र मे उन्होने कहा था :

---

१ सैयद मतलूब हसन - मोहम्मद अली जिन्ना, पृ० ५४। जिन्ना के इस समय के विचारो के जानने के लिए उनके भाषणो आदि का कोई वर्णन नहीं मिलता है। श्रीमती नायडू ने अपनी पुस्तक मोहम्मद अली जिन्ना (पृ० ११) मे सभवत: अपनी कल्पनाएँ लिखी हैं। बौलियो जिन्ना, पृ० ५७-५८।

२. जिन्ना का सितम्बर १६१७ ई० मे दिया गया भाषण। (रफीक अफजल) स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स ऑफ जिन्ना, पृ० ७२।

'अपने आत्मसम्मान के साथ मैं ऐसी सरकार के साथ सहयोग सम्भव नहीं समझता जो कौंसिल में लोगों के प्रतिनिधियों की बात स्वीकार नहीं करती।'[3]

१६१८–२० के मध्य जिन्ना के जीवन में कई प्रकार के नए अनुभव हुए। अप्रैल १६१८ ई० में उन्होंने एक सुन्दर पारसी युवती से विवाह किया। जिन्ना की आयु युवती की आयु से ढाई गुनी थी। दिसम्बर १६१८ ई० में जिन्ना ने बम्बई के अवकाश प्राप्त गवर्नर विलिंगटन को दिये जाने वाले विदाई समारोह को असफल कर दिया था। १६१६ ई० में खिलाफत आन्दोलन आरम्भ हो गया था जिसने अगले दो वर्षों में अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त की थी। यहाँ तक कि १६२०–२३ के मध्य मुस्लिम लीग का कोई अधिवेशन ही नहीं हो सका था क्योंकि यह अंग्रेज समर्थक संस्था समझी जाती थी। १६२० ई० में उन्होंने खिलाफत आन्दोलन में भाग नहीं लिया था। अक्तूबर १६२० ई० में उन्होंने होमरूल लीग से त्यागपत्र दे दिया और असहयोग आन्दोलन में भाग नहीं लिया। दिसम्बर १६२० ई० में जिन्ना कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित थे और उन्होंने कांग्रेस के असहयोग प्रोग्राम से अपनी असहमति प्रकट की थी।

सितम्बर १६२३ में जिन्ना ने स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में केन्द्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के लिए सफलतापूर्वक चुनाव लड़ा। मई १६२४ ई० में उन्हें मुस्लिम लीग अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया गया। १६२५ ई० में वे सर्वदलीय समिति के सदस्य थे जो भारत में साम्प्रदायिक सद्भाव बढ़ाने के लिये नियुक्त की गई थी। १६२७–२६ ई० के मध्य भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर घटनाएँ कुछ अधिक वेग से घटीं, लेकिन इस समय जिन्ना को सबसे अधिक निराशा मुसलमानों की आन्तरिक राजनीतिक स्थिति से पैदा हुई। इस सम्प्रदाय के विभिन्न संगठनों में बिलकुल भी एकता नहीं थी। कोई एक ऐसा दल नहीं था जो समस्त भारतीय मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करता हो। १६२६ ई० में उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई और वे इतने अधिक निराश हुए कि वे कुछ वर्षों के लिए इंग्लैण्ड चले गए।

इंग्लैण्ड में उन्हें प्रथम तथा द्वितीय गोलमेज सम्मेलनों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया। १६३४ ई० में वे कुछ समय के लिये भारत आए और फिर अक्तूबर १६३५ ई० में भारतीय राजनीति में भाग लेने के लिए वे स्थायी रूप से भारत लौट आए।

१६३६ ई० के पश्चात् मुसलमानों को राजनीतिक दृष्टि से संगठित करना जिन्ना का सबसे बड़ा कार्य था। पहली बार १६३७ ई० के निर्वाचनों में मुस्लिम लीग ने भाग लिया था। १६३७–३६ ई० के मध्य उन्होंने अन्य प्रान्तीय मुस्लिम संगठनों से राजनीतिक समझौते करके सबको मुस्लिम लीग में सम्मिलित कर लिया। १६४० ई० लाहौर प्रस्ताव द्वारा मुसलमानों के लिए पृथक् प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की

---

३. जिन्ना का २८ मार्च, १६१६ का पत्र। रफीक अफजल, पृ० ११२-११३।

माँग प्रस्तुत की गई। १६४०-४७ ई० के मध्य उस माँग के लिए विभिन्न तर्क आदि रखे गये। परिणाम यह हुआ कि भारत की स्वतन्त्रता के साथ-साथ पाकिस्तान का भी निर्माण हुआ। जिन्ना पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जनरल बने। १६४८ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

यह विचारधारा सामान्यतः प्रचलित है कि जिन्ना आरम्भ में हिन्दु-मुस्लिम एकता के भारी समर्थक थे और उनके प्रयत्नों द्वारा ही १६१६ ई० में कांग्रेस लीग समझौता हुआ था। यदि यह विचारधारा ठीक मान ली जाए तो उन कारणों की खोज आवश्यक होगी जो जिन्ना को साम्प्रदायिक तथा केवल मुसलमानों के हितों के समर्थक बना देने के लिए उत्तरदायी हुए। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह उचित होगा कि पहली मान्यता का परीक्षण कर लिया जाए।

जिन्ना ने अपनी चिन्तन प्रणाली को बहुत पहले ही स्पष्ट कर दिया था। १६११ ई० में मुसलमानों की व्यक्तिगत विधि प्रणाली में इग्लैंण्ड की प्रिवी कौंसिल के निर्णय से कुछ बाधा उत्पन्न हो गयी थी। उसको दूर करने के लिए उन्होंने एक 'वक्फ अधिनियम' का प्रस्ताव रखा। इसे प्रस्तुत करते समय उन्होंने कहा था—

"इस्लामी विधि प्रणाली में लोकनीति का कोई स्थान नहीं था""""मैं किसी भी ऐसे प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिये सहमत नहीं हूँ जो मुसलमानों के व्यक्तिगत नियमों का उल्लंघन करे"""" मेरे हिन्दू मित्र मुझ से इस बात में सहानुभूति करेंगे कि मैं अपनी विधि प्रणाली से इस सीमा तक बंधा हुआ हूँ कि मैं उसे बदलने में असमर्थ हूँ"।[४] १६१२ ई० में जिन्ना ने गोखले द्वारा प्रस्तुत प्रारम्भिक शिक्षा बिल का समर्थन किया था जिसमें प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बना देने की सिफ़ारिश की गई थी। उन्होंने कहा था, "मैं यह नहीं सोचता हूँ कि किसी भी मुसलमान के लिये यह कहना आवश्यक है कि वह इस कौंसिल में अथवा इसके बाहर कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेगा जो उसके समुदाय के हितों को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाए। इस दिशा में मैं अपने-आपको किसी से भी पीछे नहीं मानता।"[५] जिन्ना ने यह पूर्व चेतावनी अवश्य दी थी कि 'सिलेक्ट कमेटी' की रिपोर्ट के पश्चात् जब यह प्रस्ताव सदन में पुनः प्रस्तुत किया जाए तो इसमें मुसलमानों के विशिष्ट हितों की रक्षा से सम्बन्धित प्रस्ताव आवश्यक रूप से होने चाहिए।

१६१३ ई० में जिन्ना ने मुस्लिम लीग में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया था। इस समय गोखले ने यह संभावना प्रकट की थी कि साम्प्रदायिक भावना के कम होने के कारण जिन्ना भविष्य में हिन्दू मुस्लिम एकता का सर्वोत्तम दूत हो सकेगा जिन्ना की महत्वाकांक्षा 'मुस्लिम गोखले' बनने की थी।[६]

---

४. एरीक अफ़ज़ल, पृ० २१-२२।
५. वही, पृ० १६।
६. हेक्टर बोलियो : जिन्ना, पृ० ११।

दिसम्बर १९१५ ई० मे कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में होने वाला था। जिन्ना ने अपने अन्य मित्रो के साथ मुस्लिम लीग को भी अपना वार्षिक अधिवेशन बम्बई मे करने के लिए आमन्त्रित किया। इस अधिवेशन के आमन्त्रण से जिन्ना का लक्ष्य यह था कि कांग्रेस और लीग दोनों मिलकर कार्य करें ताकि अंग्रेजो से अधिक मात्रा मे स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सके।[७] अक्टूबर १९१६ ई० मे जिन्ना ने बम्बई प्रान्तीय कान्फ्रेन्स का अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा था : "हिन्दू मुस्लिम दोनो सम्प्रदायों मे सहयोग, मैत्री, वास्तविक प्रगति के लिए आवश्यक है·······मुसलमान देश की व्यवस्थापिका सभाओ में उचित, पर्याप्त और प्रभावशाली प्रतिनिधित्व चाहते हैं किन्तु मुसलमान यह प्रतिनिधित्व पृथक् निर्वाचन प्रणाली के आधार पर चाहते हैं·······सही या गलत मुस्लिम सम्प्रदाय पृथक् प्रतिनिधित्व पर दृढ़ सकल्प है·······यह प्रश्न अब वाद-विवाद अथवा विचार-विमर्श के लिए उपलब्ध नही है। यह नीति का प्रश्न न होकर आवश्यकता का प्रश्न बन गया है।·······यह प्रश्न केवल कुछ स्थानों का ही नही है। यह वास्तव में नौकरशाही से प्रजातन्त्र को शक्ति हस्तान्तरण का है'।[८]

दो महीने पश्चात् मुस्लिम लीग के अधीवेशन मे भाषण देते हुए उन्होंने कहा था .

"मुझे यह कहने की आवश्यकता नही है कि हिन्दू मुस्लिम प्रश्न सम्मिलित भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग मे एक जटिल पहेली की भाँति पड़ा हुआ है। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का गठन मुसलमानों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए हुआ था।" उन्होंने मुस्लिम सम्प्रदाय के पृथक् राजनीतिक सगठन को न्यायोचित बताया था क्योंकि यह उनके लिए एकमात्र विकल्प था विशेषकर ऐसी स्थिति मे जबकि उन्हे अपने भूतकाल की परम्पराओं पर गौरव हो और उसके सदस्यो की सख्या कम हो।" अखिल भारतीय मुस्लिम राजनीतिक सगठन का मुख्य सिद्धान्त यह था कि भारत के भावी राजनीतिक विकास मे मुसलमानों के (पृथक्) साम्प्रदायिक व्यक्तित्व को शक्तिशाली बनाए रखा जा सके।[९]

उन्होंने आगे कहा: "राष्ट्रीय समस्याओ मे सहयोग और सम्मिलित प्रयास करने के लिए एक अल्पसख्यक समुदाय की विस्तृत राजनीतिक भावनाओं को उसी समय बढ़ाया जा सकता है जबकि उसे अपनी सुरक्षा के विषय मे पूर्ण विश्वास हो जाए। यह सुरक्षा मुसलमानों को उसी समय उपलब्ध हो सकती थी जबकि उनके सम्प्रदाय के राजनीतिक अस्तित्व को पर्याप्त और प्रभावशाली सुरक्षात्मक व्यवस्था के साथ जोड़ दिया जाए।"[१०]

---

७ यह अपील ११ नवम्बर, १९१५ ई० को प्रकाशित की गई थी। वही, पृ० ६३-६४।

८. स्पीच [illegible] पृ० ४२-४८।

९. दिसम्बर, १९१६ मे दिया गया मुस्लिम लीग अध्यक्षीय भाषण। वही, पृ० ५६-५७।

१०. वही, पृ० ५७।

जिन्ना ने अपने अध्यक्षीय भाषण के अन्त में अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा : "हमें इंग्लैण्ड और भारत में अपने शुभचिन्तकों की सहानुभूति यह धारणा पैदा करके नहीं खोनी चाहिए कि एक सम्प्रदाय की भाँति हम केवल अपने स्वार्थों और सीमित लाभों के प्राप्त करने में ही लगे हुए थे........"[११] इन वाक्यों में जिन्ना ने वे कारण स्पष्ट कर दिये थे जिनके आधार पर वे लीग कांग्रेस समझौता चाहते थे। १६१६ ई० में उन तर्कों के प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं थी जो १६३० ई० के पश्चात् प्रस्तुत किए गये थे क्योंकि इस समय कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ही अंग्रेजी सरकार से कुछ सुविधायें प्राप्त करना चाहती थी। उन सुविधाओं तथा अधिकारों का बँटवारा हो सकता था जो वास्तव में किया भी गया था। प्रायः सभी मुस्लिम नेता इस समय हिन्दू मुस्लिम एकता की बात करते थे और साथ ही मुसलमानों के विशिष्ट हितों की सुरक्षा की भी माँग करते थे जो इस समय केवल साम्प्रदायिक आधार पर अधिक प्रतिनिधित्व तक सीमित थी। इन दोनों बातों में उस समय अन्तर्विरोध नहीं था।

लखनऊ समझौते के आधार पर जिन्ना को हिन्दू मुस्लिम एकता का दूत कहा जाता था। यह राष्ट्रीय नेताओं का अपना विचार था। जिन्ना ने लखनऊ समझौते के विषय में १६२६ ई० में यह बताया कि यह समझौता मुसलमानों की ओर से नहीं हुआ। इसका आरम्भ कांग्रेस की ओर से हुआ था। उन्होंने इस समझौते को कठिनाइयों का सबसे अच्छा क्षणिक हल कहा।[१२] बाद में जब जिन्ना पर नेताओं ने यह आक्षेप लगाया कि वे अपने पिछले सिद्धान्तों से बदल गए थे तब उन्होंने इस समझौते की व्याख्या करते हुए बताया था कि १६१६ ई० के समझौते का मौलिक सिद्धान्त यह था कि विधान में समस्त अल्पसंख्यकों के अधिकारों और हितों का ध्यान रखा जावेगा।[१३] ६ मार्च, १६४० ई० को उन्होंने कहा कि लखनऊ समझौते का मौलिक सिद्धान्त यह था कि दो सम्मानपूर्ण और पृथक् वर्ग एक आपसी समझौता कर रहे थे। मुसलमान एक अल्पसंख्यक वर्ग नहीं थे, बल्कि एक पृथक् कौम थे।[१४] इसी प्रकार केन्द्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में उन्होंने कहा कि १६१६ ई० का लखनऊ समझौता दो पृथक् अस्तित्वों (कौमों ?) के आधार पर स्थापित था।[१५]

जिन्ना ने १६१६ ई० में ही मुसलमानों को यह परामर्श दिया था कि वे अपनी स्थिति की सुरक्षा के लिए केवल अपने प्रयत्नों पर ही निर्भर रह सकते थे। इसलिए उन्हें अपने समाज में एकता और संगठन पर अधिक बल देना चाहिए।[१६]

---

११. रफ़ीक अफ़ज़ल, पृ० ६३।
१२ वही, पृ० २५६।
१३ उस्मान सहराई जिन्ना की तक़रीरें, पृ० ११। यह भाषण १६३८ ई० में दिया गया था।
१४. वही, पृ० १३६-१४०।
१५ वही, पृ० ६६।
१६. रफ़ीक अफ़ज़ल, पृ० ६२।

इसी प्रकार उन्होंने १६३८ ई० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के समक्ष बोलते हुए यह विचार प्रस्तुत किया था कि अल्पसंख्यकों को अपने-आपको संगठित करके अपने अधिकारों को मनवा लेना चाहिए। यह कार्य वे स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ही करना चाहते थे।[१७] इसी प्रकार मार्च १६४० ई० में उन्होंने मुसलमानों को अपने ऊपर भरोसा करने का परामर्श दिया था। उनका कहना था कि "मैं प्रत्येक व्यक्ति का मित्र बनने को तैयार हूँ, लेकिन निर्भर अपनी ही शक्ति पर करूँगा।"[१८] १६४५ में भी वे यह कहते थे 'हमारा कोई मित्र नहीं है। हमें न अंग्रेजों पर भरोसा है न हिन्दू बनिए पर।'[१६] १६२५ ई० में भी सर्वदलीय कमेटी की एक उपसमिति के समक्ष बोलते हुए उन्होंने कहा कि लखनऊ समझौते का यह लक्ष्य कभी नहीं था कि वह स्थायी होगा। उन्होंने बताया कि इस समझौते पर पुनः दृष्टि डालने के लिये पंजाब और बंगाल से आवाज उठी थी। वहाँ के बहुसंख्यक मुसलमान लेजिस्लेटिव कौंसिलों में बहुमत प्राप्त करना चाहते थे। वास्तविक कारण इसका यह था कि दोनों सम्प्रदायों को एक-दूसरे पर विश्वास नहीं था।[२०] प्रवृति परस्पर व्यापक सन्देह के दलदल में फँसी हुई थी।[२१]

मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन, अधिक प्रतिनिधित्व और अधिकार सुरक्षा की बात करते हुए भी जिन्ना यह कहते थे कि स्वराज्य प्राप्ति में हिन्दू मुसलमानों की राजनीतिक एकता आवश्यक थी। १६१६-२६ ई० के मध्य मुख्य प्रश्न अंग्रेजों से कुछ विशेष सुविधाओं—उत्तरदायी प्रशासन और सेवाओं का भारतीयकरण—का था। इसलिए किसी भी मुस्लिम नेता के लिए एक ही तर्क था कि हिन्दू मुसलमान मिलकर अंग्रेजों से ये सुविधायें प्राप्त कर लें। मौलाना आज़ाद ही ऐसे प्रभावशाली नेता थे जो १६२० के पश्चात् पृथक् सुविधाओं पर अधिक बल नहीं देते थे।

जैसे ही १६२५-२६ ई० में यह स्पष्ट हुआ कि आगामी वैधानिक सुधारों में प्रान्तों को स्वायत्तता उपलब्ध हो जायेगी, जिन्ना ने यह विचार रखा कि सिन्ध को बम्बई प्रान्त से अलग कर दिया जाए तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और बलूचिस्तान में अन्य प्रान्तों की भाँति उत्तरदायी प्रशासन स्थापित किया जाए। १६२६-३३ ई० के मध्य यह प्रश्न ही मुस्लिम राजनैतिक चिन्तन का लक्ष्य बना रहा। १६२६ ई० में उन्होंने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त को पंजाब से पृथक् करने के लिए कहा क्योंकि भाषा, भूगोल और जाति के आधार पर वह पंजाब से भिन्न था।[२२]

दिसम्बर १६२६ ई० में जिन्ना ने मुस्लिम लीग अधिवेशन में यह प्रस्ताव प्रस्तुत

१७ तक़रीर, पृ० ११७।

१८. वही, पृ० १४५-१४६।

१६ मुफ्ती गुलाम जाफर : इरशादात-ए-जिन्ना, पृ० २२६।

२० रफ़ीक अफ़ज़ल, पृ० १५३-१५५।

२१ १६२६ ई० का अध्यक्षीय भाषण, रफ़ीक अफ़ज़ल, पृ० १३२-१३३।

२२. रफ़ीक अफ़ज़ल, पृ० २४१।

किया कि अंग्रेजी सरकार को अब शीघ्रता से कुछ सुधार स्थापित करने चाहिएं जिससे भारत में एक उत्तरदायी प्रशासन स्थापित हो सके। इन सुधारों को लागू करते समय निम्न बातों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक था।

(१) देश की प्रत्येक निर्वाचित सभा में अल्पसंख्यकों को पर्याप्त और प्रभावशाली प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए तथा किसी भी बहुमत को अल्पमत अथवा समानता में नहीं बदला जाना चाहिए।

(२) साम्प्रदायिक पृथक् प्रतिनिधित्व प्रणाली प्रचलित रहनी चाहिए।

(३) देश में प्रान्तीय पुनर्गठन करते समय पंजाब, बंगाल और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुस्लिम बहुमत कम नहीं होना चाहिए।

(४) सब सम्प्रदायों को धर्म तथा शिक्षा की स्वतन्त्रता उपलब्ध होगी।

(५) किसी एक सम्प्रदाय के ३/४ निर्वाचित सदस्यों के विरोध के पश्चात् कोई विधेयक पास नहीं किया जायेगा यदि इस विधेयक से उनके साम्प्रदायिक हितों को हानि पहुँचती हो।[२३]

उस समय उनका एक आक्षेप कांग्रेस अथवा हिन्दू संगठनों पर यह था कि उन्होंने मुस्लिम सम्प्रदाय के भविष्य के विषय में कोई निश्चित प्रस्ताव नहीं रखा था। उनके अनुसार साम्प्रदायिकता का अस्तित्व वास्तविक था। उन्होंने चेतावनी के रूप में यह भी कहा कि यदि कोई सम्मिलित समझौता नहीं हो सकता था तब मुस्लिम लीग अपना मुकदमा रोयल कमीशन के समक्ष स्वयं प्रस्तुत करेगी और लड़ाई लड़ेगी। लेकिन इस समय पृथक् राष्ट्रीयता की बात वे प्रस्तुत नहीं कर रहे थे।

२० मार्च, १६२७ ई० को विभिन्न विचारों के मुसलमान नेताओं ने दिल्ली में विचार-विमर्श किया और 'दिल्ली प्रस्ताव' प्रस्तुत किए जिनके अनुसार पाँच मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों में पृथक् उत्तरदायी प्रशासन पद्धति स्थापित करने की बात कही गई। इन प्रान्तों में यदि मुस्लिम बहुमत को सुरक्षित कर दिया जाए तब मुस्लिम नेता पृथक् निर्वाचन पद्धति को छोड़ने को तैयार थे। इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देते हुए जिन्ना ने कहा था कि इनमें मुसलमान संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों पर सहमत हो गए यदि उनकी अन्य शर्तों को स्वीकार कर लिया गया। ये पूर्व शर्तें थीं। सिन्ध का बम्बई से अलग किया जाना और उत्तर-पश्चिमी सीमा और बलूचिस्तान प्रान्तों में उत्तरदायी प्रशासन की स्थापना। यदि ऐसा हुआ तब मुसलमान नेता भी हिन्दू अल्पसंख्यकों के लिए उपरोक्त तीनों प्रान्तों में उसी प्रकार की सुविधायें देंगे जो हिन्दू बहुमत वाले प्रान्तों में उन्हें उपलब्ध होंगी। पंजाब और बंगाल में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के अनुसार ही होगा और केन्द्र में मुसलमानों को १/३ स्थान प्राप्त होने चाहिए।

यह सब प्रस्ताव एक योजना के अधीन ही थे। इस समय पृथक् निर्वाचन

---

२३. वही, पृ० २४८।

प्रणाली को छोड़ने के लिए जिन्ना तैयार थे क्योंकि यह निर्वाचन प्रणाली अपने में एक लक्ष्य नहीं थी बल्कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन मात्र थी।[२४] लक्ष्य मुसलमानों में बहुसंख्यकों के सम्भावित अत्याचारों से सुरक्षा पैदा करना था। वे दोनों समुदायों में सन्तुलन स्थापित रखना आवश्यक समझते थे।

दिसम्बर १९२८ ई० में नेहरू रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्वदलीय सम्मेलन कलकत्ते में हुआ। मुस्लिम लीग की ओर से जिन्ना ने इस रिपोर्ट से अपनी असहमति प्रकट की। अपने भाषण में अन्य मुस्लिम पृथकतावादी नेताओं की भाँति वे सदा यह कहते थे कि "हमारी प्रगति के लिये हिन्दू मुस्लिम एकता अत्यन्त आवश्यक है।" साथ ही वह यह कहते थे कि "बहुमत अत्याचारी तथा निरंकुश होते हैं और अल्पमत अपने हितों और अधिकारों को वैधानिक रूप से सुरक्षित करना चाहते हैं"[२५] इसी अवसर पर जिन्ना ने यह तर्क भी प्रस्तुत किया कि अल्पसंख्यक किसी भी भारतीय संविधान का समर्थन उसी समय करेंगे जबकि इकाई के रूप में उनका पृथक् अस्तित्व सुरक्षित हो। इसके अभाव में देश में गृहयुद्ध और विप्लव उत्पन्न होगा।[२६] देश के लिए उस समय तक संविधान निर्माण की बात व्यर्थ थी जबतक कि हिन्दू मुस्लिम समस्या का हल न हो जाए।

जिन्ना कलकत्ते के सर्वदलीय सम्मेलन से निराश लौटे थे। इस निराशा का कारण यह था कि वे अपनी माँगों को भारत के सात करोड़ मुसलमानों की माँग कहते थे जबकि कई मुस्लिम संगठन सर्वदलीय सम्मेलन में सम्मिलित थे, तथा नेहरू समिति की सिफारिशों से सहमत थे। मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कई संस्थाएँ तथा संगठन करते थे और मुस्लिम लीग स्वयं दो दलों में विभक्त थी। जमैयत उलउलमा, खिलाफत समिति आदि नेहरू रिपोर्ट के विरुद्ध नहीं थी। जिन्ना के प्रस्तावों को स्वीकार करने से यह आशंका थी कि अन्य मुस्लिम दल जो उस समय सहमत थे बाद में असहमत हो सकते थे।[२७] इस समय बड़ा सन्देह यह था कि जिन्ना के पक्ष में कितना समर्थन था। यह कहना अनुचित है कि सर्वदलीय सम्मेलन ने मुसलमानों के हितों के प्रति अनदेखी कर दी थी।

कलकत्ते से लौटने के पश्चात् जिन्ना ने मुस्लिम लीग कौंसिल की बैठक में १४ सूत्रीय कार्यक्रम तैयार किया। यह कार्यक्रम किसी भी समझौते के लिए पूर्व आवश्यकता घोषित कर दिया गया था। इस कार्यक्रम में निम्नलिखित प्रस्ताव थे :

(१) भावी संविधान संघात्मक होना चाहिए जिसमें अवशिष्ट अधिकार प्रान्तों के पास रहने चाहिए।

---

२४. वही, पृ० २९२।

२५ वही, पृ० २९८, २९९।

२६ वही, पृ० २९४।

२७ मतलूब, पृ० १९३-१९४।

(२) समस्त प्रान्तों को समान स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए ।

(३) देश की समस्त व्यवस्थापिका और निर्वाचित सभाओं का गठन इस आधार पर होना चाहिए कि प्रत्येक प्रान्त में अल्पसंख्यकों को पर्याप्त और प्रभावशाली प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए तथा किसी भी प्रान्त में बहुमत को अल्पमत अथवा समानता में परिवर्तित नही करना चाहिए ।

(४) केन्द्रीय सभा में मुस्लिम प्रतिनिधित्व एक तिहाई से कम नही होना चाहिए ।

(५) साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पृथक् निर्वाचन प्रणाली के अधीन ही होना चाहिए यद्यपि किसी भी वर्ग को यह अधिकार उपलब्ध होगा कि वह इस प्रणाली को छोड़कर सम्मिलित निर्वाचन प्रणाली अपना सके ।

(६) किसी भी भावी क्षेत्रीय परिवर्तन में बंगाल, पंजाब और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुस्लिम बहुमत को कम नही किया जाए ।

(७) सब सम्प्रदायों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता उपलब्ध होनी चाहिए ।

(८) किसी भी सम्प्रदाय के ३/४ सदस्यो के विरोध के पश्चात् कोई प्रस्ताव पास नही किया जायेगा यदि वह उस सम्प्रदाय के हितों के विरुद्ध हो ।

(९) सिन्ध प्रान्त को बम्बई प्रान्त से अलग कर दिया जाए ।

(१०) उत्तर-पश्चिमी प्रान्त और बलूचिस्तान में अन्य प्रान्तों की भांति सुधार स्थापित किये जाएँ ।

(११) संविधान में इस बात का निश्चित आयोजन किया जाना चाहिए कि राज्य-सेवाओं में तथा स्थानीय संस्थाओं में मुसलमानो को उचित मात्रा में स्थान मिलने चाहिए ।

(१२) संविधान में मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा, भाषा, धर्म व्यक्तिगत नियमो और राज्य से उपलब्ध अनुदान को सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त सुरक्षा व्यवस्था होनी चाहिए ।

(१३) केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय कोई भी मन्त्रिमण्डल एक तिहाई मुस्लिम मन्त्रियों के बिना नहीं बनाया जाना चाहिए ।

(१४) केन्द्रीय व्यवस्थापिका के संविधान में बिना राज्यों की स्वीकृति के कोई परिवर्तन नही किया जाना चाहिए ।

जिन्ना ने यह चौदह सूत्रीय कार्यक्रम इसलिए तैयार किया था कि विभिन्न मुस्लिम संगठन उनके साथ हो जाएँ । दिसम्बर १९२८ ई० कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लक्ष्य को एक वर्ष के लिए स्थगित कर दिया था । इससे जिन्ना अत्यन्त चिन्तित हो उठे थे । उन्होंने जून १९२९ ई० मे एक पत्र इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री

रेम्जे मेकडोनल्ड को लिखा जिसमें वे चाहते थे कि स्वतन्त्रता आन्दोलन को दुर्बल बनाने के लिए अंग्रेज सरकार को भारत में पूर्ण उत्तरदायी सरकार स्थापित कर देनी चाहिए, और डोमिनियन स्टेट्स की स्थापना की घोषणा कर देनी चाहिए। उन्होंने अपने पत्र में लिखा "भारत का इंग्लैण्ड के कथन पर से विश्वास उठ गया है······· भारत और इंग्लैण्ड की सरकारों ने १९२४ ई० से समस्त न्यायोचित माँगों के प्रति ऐसा दृष्टिकोण अपनाया है जिससे प्रत्येक राजनीतिक दल इस निर्णय पर पहुँच गया है कि न्याय और उचित कार्य की कोई आशा नहीं है। इसलिए भारत में एक वर्ग पूर्ण स्वतन्त्रता·······के पक्ष में है और बिना अतिशयोक्ति के मैं कह सकता हूँ कि स्वतन्त्रता आन्दोलन जोर पकड़ रहा है क्योंकि इण्डियन नेशनल कांग्रेस इसका समर्थन कर रही है।"[२८]

इस पत्र में जिन्ना ने एक अन्तरदलीय सम्मेलन बुलाने का सुझाव दिया था। लेकिन मतलूब का यह कहना गलत है कि इसी आधार पर गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया था। जिन्ना केवल यह चाहते थे कि १५ के लगभग भारतीय सदस्यों को आमन्त्रित किया जाए, किन्तु सम्मेलन में इससे कहीं अधिक सदस्य बुलाये गये थे। केवल अंग्रेजों के अधीन भारत के ही ५८ सदस्य भाग ले रहे थे। भारतीय नरेशों के प्रतिनिधि इसके अतिरिक्त थे जिन्ना ने उनके विषय में वर्णन तक भी नहीं किया था।

१९२९ ई० में जिन्ना भारत में मुसलमानों से पूरी तरह तंग आ चुके थे क्योंकि वे संगठित नहीं थे। कुछ मुसलमान कांग्रेस के पक्ष में थे और कुछ अंग्रेज सरकार के पक्ष में। इस फूट और असंगठित व्यवस्था से दुखी होकर जिन्ना ने इंग्लैण्ड में रहने का निश्चय किया।[२९]

गोलमेज सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में जिन्ना ने यह स्पष्ट कर दिया था कि भारतीय समस्या का हल चार पक्षों के सन्दर्भ में ही सम्भव था। अंग्रेज, भारतीय नरेश, हिन्दू तथा मुसलमान। भारतीय संघ के स्वरूप पर काफी वाद-विवाद हो रहा था और जिन्ना अंग्रेजी प्रान्तों और भारतीय राज्यों को समान स्तर पर समझते थे। यदि अखिल भारतीय संघ सम्भव न हो तब अंग्रेजी प्रान्तों का ही संघ बनाया जाना चाहिए। इस सम्मेलन के समक्ष भी मुख्य समस्या हिन्दू मुस्लिम वाद-विवाद की थी। जिन्ना ने अपनी यह धारणा स्पष्ट की कि भारतीय सरकार के लिए किसी भी संविधान की रचना उस समय तक सम्भव नहीं थी जबतक कि हिन्दू मुस्लिम समस्या का ऐसा हल न हो जाए,[३०] जिसमें मुसलमानों को पूरी तरह सुरक्षा अनुभव हो। उनका सहयोग और सहमति उपलब्ध हुए बिना कोई संविधान भारत में

---

२८. रफीक अफजल, पृ० ३०८-३१०।

२९. यह जिन्ना ने स्वयं ५ फरवरी, १९३८ ई० के अलीगढ़ में भाषण देते हुए कहा था। तकरीरें, पृ० १११-११२।

३०. रफीक अफजल, पृ० ३५४-४०७।

२४ घंटे भी नहीं चल सकता था। कोई भी संविधान मुसलमानों को उस समय तक स्वीकृत नहीं होगा जबतक उनकी माँगें स्वीकृत न हो जाएँ। बिना अल्पसंख्यकों की समस्या के हल किये हुए संविधान की समस्या का हल बेकार था।[३१] इस प्रकार गोलमेज सम्मेलन में यह स्पष्ट हो चुका था कि जिन्ना किसी भी प्रकार के संवैधानिक विकास को उस समय तक असम्भव समझते थे जबतक कि साम्प्रदायिक समस्या का हल न निकल आए।

जिन्ना इस सम्मेलन में मुसलमानों के विभिन्न दृष्टिकोणों तथा कांग्रेस और अन्य पक्षों के तर्कों से अत्यन्त निराश हो गये थे। बोलियो के अनुसार जिन्ना भारत के किसी प्रभावशाली पक्ष का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे इसलिए उन्हें तीसरे गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित नहीं किया गया था। निराशा की अवस्था में उन्होंने इंग्लैण्ड में ही ठहरकर वकालत करने का निश्चय किया।[३२] १९३०-३४ ई० के मध्य जिन्ना भारतीय राजनीति से अलग-थलग पड़ गए। इस बीच साम्प्रदायिक निर्णय अंग्रेज सरकार द्वारा घोषित किया गया जिसे मुसलमानों ने स्वीकार कर लिया था। १९३५ ई० में जिन्ना भारत लौट आए।

जिन्ना ने १९३५ ई० के एक्ट की संघीय व्यवस्था को केन्द्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल द्वारा अस्वीकृत करवा दिया था। लेकिन जब १९३६ ई० में उन्हें यह ज्ञात हुआ कि १९३५ ई० का एक्ट लागू होगा, और उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि मुस्लिम राजनीति उसी प्रकार से प्रान्तीयता के बन्धनों में जकड़ी हुई थी जैसी १९२९-३० ई० में, तब उन्हें 'निराशाओं ने अधिक निडर बना दिया'।[३३] अप्रैल,१९३६ ई० में उन्होंने मुस्लिम लीग को अखिल भारतीय रूप देने और नए निर्वाचनों में भाग लेने का निश्चय किया। अक्तूबर १९३७ ई० में ही जबकि कांग्रेस के मन्त्रिमण्डलों को बने हुए कुछ सप्ताह से अधिक नहीं हुए थे जिन्ना ने यह आक्षेप लगाना आरम्भ कर दिया था कि मुसलमान कांग्रेस सरकार से किसी न्याय की आशा नहीं कर सकते थे। जिन्ना ने वन्दे मातरम्, हिन्दी भाषा को प्रोत्साहन तथा कांग्रेसी ध्वज को सम्मान देने के विषय में शिकायत की थी।[३४] अप्रैल १९३८ ई० में नेहरू जिन्ना के मध्य हुए पत्र व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों नेताओं में कई मौलिक अन्तर थे। जिन्ना चाहते थे कि मुस्लिम लीग को मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया जाए। नेहरू उसे केवल एक साम्प्रदायिक संगठन मानने को तैयार थे जिस प्रकार के साम्प्रदायिक संगठन विभिन्न थे। जिन्ना ने यह आक्षेप भी लगाया था कि कांग्रेस का व्यवहार एकाधिकारी तथा प्रभुत्वसम्पन्न संस्था का सा था। कांग्रेसी

३१ वही, पृ० ४०६।
३२ बोलियो, पृ० ९९।
३३ वही।
३४. जिन्ना का मुस्लिम लीग अध्यक्षीय भाषण। ग्रिफिथ्स · दी इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ३४७।

मों के पत्र में उन्हें महंभाव स्पष्ट होता था। १२ अप्रैल, १९३८ ई० के पत्र में ा ने समस्त झगड़े की बुनियाद स्पष्ट करदी थी। उन्होंने कहा था : "जबतक मुस्लिम लीग को कांग्रेस पूर्ण समानता के स्तर पर स्वीकार नहीं करती एक हिन्दू मुस्लिम समझौते के विषय में बातचीत नही करती तबतक हमें क्षा करनी पड़ेगी और अपनी आन्तरिक शक्ति पर निर्भर रहना पड़ेगा। वह हमारे महत्व और प्रतिष्ठा का सूचक होगा"।[३५] अपने अध्यक्षीय भाषण में म्बर १९३८ ई० में उन्होंने कांग्रेस के एक राष्ट्रीय स्वप्न की तीव्र आलोचना की उन्होंने कांग्रेस को केवल एक हिन्दू संगठन बताया था। १९३१ ई० में ही जिन्ना कहा था कि भारत की समस्या को सुलझाने के लिये चार पक्षों में बातचीत श्यक थी।[३६] अंग्रेज सरकार, भारतीय राज्य, मुसलमान और हिन्दू। यह ही उन्होंने १९३८ ई० में भी दोहराया था।[३७]

१९३७ ई० के निर्वाचनों से यह स्पष्ट हो चुका था कि किसी भी केन्द्रीय स्था में हिन्दुओं का बहुमत रहेगा। इसलिए किसी ऐसी योजना को प्रस्तुत ा आवश्यक हो गया था जिसका मुसलमान जनता तथा विभिन्न मुस्लिम दल र्थन करें और अंग्रेजी सरकार भी उसे स्वीकार कर ले। जिन्ना को कांग्रेस की स्वीकृति इतनी चिन्ता नहीं थी। अक्तूबर १९३८ ई० में भारत से चार मुसलमानों का सदस्य मण्डल मिश्र में हो रहे पलेस्टाइन सम्मेलन में भाग लेने के लिये गया। समय जिन्ना इकबाल द्वारा प्रस्तुत तथा अन्य भारत विभाजन योजनाओं पर र कर रहे थे। इसी मण्डल के दो सदस्य लीग की कार्यकारिणी के सदस्य भी थे। दस्य इंग्लैण्ड में भारत उपसचिव तथा सचिव से मिले और उनसे भारत विभाजन योजना का वर्णन किया। उन अधिकारियों की परोक्ष रूप से सहमति मिल जाने श्चात्, तथा उन लोगों के मई १९३९ ई० में भारत लौट आने के पश्चात् ही ाजन योजना के सम्बन्ध में कोई कार्य किया जा सका।[३८] मुस्लिम लीग द्वारा स पर लगाए गए आक्षेप सम्बन्धी 'पिरपुर रिपोर्ट' भी इसी समय प्रकाशित की थी। इसी प्रकार बिहार में कांग्रेस प्रशासन के दोषों को स्पष्ट करने के लिए फ रिपोर्ट' प्रकाशित की गई। १९३९ ई० में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र जाने के पश्चात् जिन्ना ने देश भर के मुसलमानों को परामर्श दिया कि वे

---

३५. नेहरू जिन्ना पत्र व्यवहार : फिलिप्स, पृ० ३४८-३५०।

३६. रफीक अफ़ज़ल, पृ० ३१३।

३७ फिलिप्स, पृ० ३५१। जिन्ना का मुस्लिम लीग के पटना अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण।

३८ खलीक उज्ज़मान : पाथवे टू पाकिस्तान, पृ० २०४-२०६। अक्तूबर १९३८ ई० में सिन्ध मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पास करके मुस्लिम लीग को एक ऐसे संविधान बनाने का उत्तरदायित्व सौंप दिया था जिससे भारत के मुसलमानों को पूर्ण स्वतन्त्रता मिल सके। खालिद बिन सईद : पाकिस्तान, दी फोर्मेटिव फेज़, पृ० १०७।

२२ दिसम्बर, १९३९ ई० को 'मुक्ति दिवस' के रूप में मनाएँ क्योंकि कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल समाप्त हो चुके थे। भारतीय मुसलमानों को इस प्रकार उत्तेजित किया गया कि वे कांग्रेसी प्रशासन के विरुद्ध जिन्ना के काल्पनिक आक्षेपों को सही समझने लगे।[३९]

एक ओर तो कांग्रेसी प्रशासन के विरुद्ध मुसलमानों को भड़काया जा रहा था, दूसरी ओर जिन्ना का यह प्रयत्न रहा कि भारतीय मुसलमानों को मुस्लिम लीग का नेतृत्व स्वीकार करने पर बाध्य किया जाए, तथा मुस्लिम लीग को केवल उच्च वर्ग का दल न रखकर जनसाधारण का दल बना दिया जाए। पंजाब, बंगाल और सिन्ध के प्रान्तीय मुस्लिम संगठनों का सहयोग तथा समर्थन प्राप्त करने का पृथक् प्रयत्न जिन्ना ने किया जिसमें कुछ बाधाओं के पश्चात् उन्हें पर्याप्त सफलता उपलब्ध हुई।

इसी अवधि में जिन्ना यह भी कहते रहे कि कांग्रेस को साम्प्रदायिक समस्या को हल करना चाहिए। कांग्रेस यह भली-भाँति जानती थी कि मुस्लिम लीग का मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में कोई विशेष प्रभाव नहीं था। इसलिए वह लीग की इस चेतावनी पर विशेष ध्यान नहीं देती थी। जिन्ना यह चाहते थे कि हिन्दू मुस्लिम समझौते का यदि कोई हल हो तो केवल मुस्लिम लीग के माध्यम से। इसलिए कांग्रेस और लीग के दृष्टिकोणों में एक मौलिक अन्तर बना रहा। केन्द्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में मुस्लिम लीग के सदस्यों की स्थिति महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि कांग्रेस को अथवा सरकारी पक्ष को जिन्ना का नेतृत्व वाले गुट के समर्थन के अभाव में बहुमत मिलने की संभावना नहीं थी। लीग की कार्यकारिणी के दो सदस्य इंगलैण्ड में भारत उपसचिव तथा भारत सचिव से क्रमशः १४ और २० मार्च, १९३९ ई० को मिल चुके थे जिन्होंने भारत विभाजन के प्रस्ताव के प्रति सहानुभूति प्रकट की थी।

इसके तुरन्त बाद २२ मार्च, १९३९ ई० को जिन्ना ने अपनी नीति में परिवर्तन की घोषणा की और चेतावनी के रूप में पृथक् मुस्लिम व्यक्तित्व की घोषणा की।

"तुम दोनों (कांग्रेसी और सरकारी मत वाले सदस्य) मिलकर भी हमारी आत्मा को नष्ट करने में कभी सफल न हो सकोगे। तुम उस सभ्यता को न मिटा सकोगे उस इस्लामी सभ्यता को जो हमें विरासत में मिली है। हमारे धर्म का प्रकाश जीवित है, जीवित रहा है और रहेगा·······हम एक निर्णय पर पहुँच चुके हैं और हमने यह दृढ़ निर्णय कर लिया है कि यदि हमें मरना ही है तो लड़ते-लड़ते मर जायेंगे।"

१९ जनवरी, १९४० में जिन्ना ने एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने इस बात पर बल दिया था कि अंग्रेजों को यह समझ लेना चाहिये कि हिन्दू और

---

३९ फिलिप्स, पृ० ३५२-३५३।

इस्लाम धर्म दो पृथक् और भिन्न सभ्यताओं के द्योतक थे और उनमें परस्पर उतना ही अंतर था जितना यूरोप की दो कौमों मे होता था। यह धारणा १९३३-३४ ई० मे पार्लियामेंट की जोइन्ट सिलेक्ट कमेटी ने भी स्वीकार करली थी। इसलिये भारत में पश्चिमी प्रजातन्त्रीय संविधान ठीक नही था। इस लेख के अन्त में जिन्ना का सुझाव था कि एक ऐसे संविधान का निर्माण होना चाहिये जो यह स्वीकार करे कि भारत मे दो कौमे हैं और उन दोनों को मातृ-भूमि के नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिये।[४०]

जिन्ना ने मार्च १९४० ई० मे मुस्लिम लीग अधिवेशन में पाकिस्तान प्रस्ताव पास करवाया था। किन्तु इस योजना के निर्माण मे जिन्ना का योगदान बहुत कम था। १९३० ई० मे डॉ० इकबाल के मुस्लिम प्रान्तों को पृथक् राज्यों में बना देने की माँग के पश्चात् इस प्रकार की विभिन्न योजनाएँ बन रही थीं। १९३०-३८ के मध्य की योजनाएँ काल्पनिक अधिक दिखाई पड़ती थी।[४१] इसके अतिरिक्त इन सब योजनाओं मे यह आवश्यक मान लिया गया था कि किसी प्रकार का सम्बन्ध अखिल भारतीय संघ के साथ रखा जाए। जिन्ना इस प्रकार की कोई योजना नहीं चाहते थे।[४२] पाकिस्तान योजना को मार्च १९४० ई० में प्रस्तुत करते समय जिन्ना ने कहा था कि एक अच्छा सेना संचालक उस समय तक 'आक्रमण करो' का आदेश नही देता जबतक उसे विजय का विश्वास न हो अथवा उसे सम्मानपूर्ण पराजय का विश्वास तो निश्चित रूप से होना ही चाहिये।[४३]

मार्च, १९४० ई० मे अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण मे जिन्ना ने कांग्रेस पर यह आरोप पुन: लगाया कि कांग्रेस एक हिन्दू संगठन था और मुसलमानो के लिये उसको बोलने का अधिकार नही था, क्योंकि जबतक मुस्लिम लीग अपना यह दावा स्वीकार न करा ले, उस समय तक उसकी कोई भी मांग स्वीकृत होने की संभावना नही थी।

१९३७-४० ई० में जिन्ना का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने मुस्लिम लीग को अखिल भारतीय संगठन मे परिवर्तित कर दिया तथा विभिन्न प्रान्तीय मुस्लिम लीग व संगठनों के स्थान पर मुस्लिम लीग का प्रभुत्व स्थापित कर दिया।

---

४०. यह लेख 'टाइम और टाइड' में प्रकाशित हुआ था और मुस्लिम लीग द्वारा प्रकाशित 'इण्डियाज़ प्रोबलम ऑफ हरफ्यूचर कॉन्स्टट्यूशन' पृ० २२-२८ पर प्रकाशित है।

४१. इन योजनाओं का विस्तृत विवरण इस पुस्तक की सीमाओं से बाहर है। इसलिये यहाँ पर नही दिया गया है। देखिए खालिद बिन सईद पाकिस्तान, दी फोर्मेटिव फेज, पृ० १०७-११६।

४२ १९४४ ई० मे जिन्ना गांधी वार्ता इसी आधार पर असफल हो गई थी कि गांधी एक संघ की स्थापना के लिये सहमत थे जिसमें मुस्लिम और स्वतन्त्र हो जाएं लेकिन कुछ सामान्य हितो के लिये एक संघ के अधीन रहें।

४३ २१ नवम्बर, १९४५ ई० को जिन्ना का पेशावर मे भाषण इस्पाहानी, पृ० २७५।

उन्होंने मार्च, १६४० ई० में परामर्श दिया था :

"मैं चाहता हूँ कि आप अपने आपको संगठित करने का महत्त्व समझ लें···· आप अपनी आन्तरिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी पर भरोसा नहीं कर सकते। अपने आप पर निर्भर रहो। अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये अपने में शक्ति पैदा करो।" उन्होंने आगे कहा : "अंग्रेज सरकार द्वारा भारत के भविष्य के संविधान के सन्दर्भ में कोई घोषणा बिना हमारी सहमति नही की जानी चाहिये···· यदि ऐसी कोई घोषणा की जाती है और बिना हमारी स्वीकृति और सहमति के कोई अन्तरिम समझौता किया जाता है तो भारत के मुसलमान इसका विरोध करेंगे।"[४४]

जिन्ना ने एक अन्य कार्य यह किया कि मुसलमानों को एक अल्प संख्यक वर्ग के स्थान पर एक कौम बताया और भारत के भावी संविधान का प्रजातन्त्रीय आधारों पर गठन असम्भव तथा अव्यवहारिक बताया। उन्होने उसी प्रकार के तर्क दोहराए जो डा० इकबाल ने अपने १६३० ई० के भाषण में दिए थे। जिन्ना ने कहा कि "एक हजार वर्षों के सम्पर्क के बावजूद ऐसी राष्ट्रीयताएँ जो सदा की भाँति भिन्न और अलग-अलग है, केवल प्रजातन्त्रीय प्रणाली की स्थापना से किस प्रकार एक राष्ट्र बन सकती है ?········भारत की समस्या अन्तर्जातीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय है। यदि अंग्रेजी सरकार इस उप-महाद्वीप के लोगो की सुख और समृद्धि की इच्छुक है तब एक मात्र विकल्प यही है कि भारत को कई राज्यों में विभक्त करके यहाँ की बड़ी कौमों को पृथक्-पृथक् भाग दे दिये जाएं········यह एक स्वप्न है कि भारत मे हिन्दू और मुसलमान एक सम्मिलित राष्ट्रीयता प्राप्त कर सकेंगे।" हिन्दू और मुसलमानों की भिन्नताएँ बताते हुए जिन्ना इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "ये दोनों सम्प्रदाय बिल्कुल भिन्न थे········वर्तमान कृत्रिम एकता केवल अंग्रेजी राज्य की देन है········भारत के मुसलमान किसी भी ऐसे संविधान को स्वीकार नही करेंगे जिसमें बहुसंख्यक हिन्दुओं की सरकार स्थापित हो सके।"

"मुसलमान एक अल्पसंख्यक समुदाय नही हैं········वे प्रत्येक परिभाषा के अनुसार एक कौम (नेशन) हैं और उन्हें अपना वतन, राज्य तथा क्षेत्रफल मिलना चाहिये········हम अपने लक्ष्य से डरा धमकाकर विचलित नहीं किये जा सकते·····"[४५] उन्होंने बुद्धिजीवी वर्ग से सामान्य मुस्लिम वर्गों को उत्तेजित करने के लिए कहा।

१६४० ई० के मुस्लिम लीग अधिवेशन में पारित पहले प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा कर दी गई कि कोई भी भावी संवैधानिक योजना उस समय तक भारत के मुसलमानों को स्वीकृत नही होगी जबतक वह उनकी स्वीकृति और सहमति से न बनाई गई हो। इस भावी योजना का आधार भी स्पष्ट कर दिया गया था कि

४४. जिन्ना का अध्यक्षीय भाषण : पृ० ३-८। इण्डियाज प्रोब्लम ऑफ हर फ्यूचर कॉन्स्टीट्यूशन (मुस्लिम लीग द्वारा प्रकाशित) १६४०।

४५. जिन्ना का अध्यक्षीय भाग : वही, पृ० १२-१५।

भौगोलिक दृष्टि से साथ लगने वाले क्षेत्रों को कुछ फेर बदल के पश्चात् इस प्रकार बाँट दिया जाए कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों को पृथक् राज्यों में परिवर्तित कर दिया जाए जिसमें प्रत्येक इकाई पूर्ण रूप से प्रभुत्व सम्पन्न हो।[४६]

मई, १६४० ई० में मुस्लिम लीग के बम्बई प्रादेशिक अधिवेशन को अपने संदेश में जिन्ना ने कहा : "अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने भारत के मुसलमानों को सही दिशा दिखा दी है। उसने उन्हें एक उत्तम कार्यक्रम, एक नीति, एक मंच और एक ध्वज प्रदान किया है.........भारतीय राष्ट्र केवल कांग्रेस हाई कमाण्ड के मस्तिष्क में ही विद्यमान है।"[४७]

जिन्ना ने अपनी योजना को स्पष्ट करते हुए कहा कि हमारा प्रस्ताव यह था कि हिन्दू और मुसलमान दो सम्मानपूर्ण कौमों की भाँति साथ-साथ अच्छे पड़ोसियों की भाँति रहें, न कि हिन्दू उच्च और मुसलमान निम्न कौम की भाँति रहें जिसमें हिन्दू बहुमत मुसलमानों पर नियन्त्रण करे। वे भारत विभाजन की इस योजना को साम्प्रदायिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक समस्याओं का हल समझते थे क्योंकि इस योजना के अधीन हिन्दू और मुसलमान समान अधिकार और स्थान प्राप्त कर सकेंगे।[४८]

जिन्ना ने पाकिस्तान का औचित्य सैद्धान्तिक रूप में तो यह बताया था कि चूंकि मुसलमान एक कौम (नेशन) हैं इसलिए उन्हें पृथक राज्य चाहिए। यह तर्क इसलिए प्रस्तुत किया गया था क्योंकि इसी राष्ट्रीयता (कौमियत) के आधार पर यहूदियों को फैलेस्टाइन में स्थान मिलने की बात हो रही थी। किन्तु वास्तव में उन्होंने "पाकिस्तान की माँग प्रस्तुत करके भारतीय मुसलमानों के दिलों में जो भावनाएँ थी उनको निडरता से प्रकट कर दिया था।"[४६] यह भावना थी कि मुसलमान हिन्दुओं के अधीन न रहें। पाकिस्तान के लिए संघर्ष अंग्रेजों से नहीं बल्कि कांग्रेस से (जिसे वे केवल एक हिन्दू संगठन कहते थे) था। नवम्बर १६४० में उन्होंने कहा कि "हम इंगलैण्ड से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। यही कारण है कि हमने आरम्भ से ही इंगलैण्ड के मार्ग में रुकावटें नहीं डाली। उदाहरणार्थ यद्यपि पाकिस्तान ही हमारी नौका का लक्ष्य है फिर भी हमने इंगलैण्ड सरकार के समर्थन के लिये पाकिस्तान की माँग को पूर्व शर्त के रूप में नहीं रखा। हमने केवल यह आश्वासन चाहा कि इगलैण्ड सरकार कांग्रेस से कोई स्थायी या अस्थायी समझौता करके हमारा साथ न छोड़ दे।"[५०] यदि किसी

---

४६. मुस्लिम लीग अधिवेशन (१६४० ई०) में पास किया हुआ प्रस्ताव नं० १ वही, पृ० १६-१७।

४७. वही, पृ० १८-१६।

४८. वही, पृ० २०।

४६. जिन्ना का १० मार्च १६४१ का भाषण तकरीरें, पृ० १६६।

५०. जिन्ना का नवम्बर १६४० का भाषण तकरीरें, पृ० १६२।

समय ऐसा प्रतीत भी होता था कि जिन्ना अंग्रेज सरकार का विरोध कर रहे थे तो उसका केवल कारण यह था कि अंग्रेज सरकार कांग्रेस को अधिक महत्त्वपूर्ण समझती थी।[५१]

१६४०–४६ ई० के मध्य घटनाओं का क्रम बड़े वेग से चला। लेकिन इन सबमें जिन्ना का लक्ष्य हिन्दू मुसलमानों में समानता प्राप्त करना था। उन्होंने यह बात अपने विभिन्न भाषणों में कही थी। ६ मार्च १६४० ई० को अलीगढ़ में भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दू मुस्लिम समझौता 'केवल समानता के आधार पर सम्भव था' न कि गाँधीजी की शर्तों पर।[५२] चूंकि यह समानता पश्चिमी प्रजातन्त्रीय प्रणाली से उपलब्ध नहीं हो सकती थी इसलिए वे प्रजातन्त्रीय प्रणाली के विरुद्ध थे। उनका तर्क था कि इस्लाम ऐसे प्रजातन्त्र पर विश्वास नहीं रखता जिसमें निर्णय का अधिकार गैर मुसलमानों को हो।[५३] उन्होंने हिन्दू मुस्लिम समझौते के सम्भव न होने के लिए मुख्य कारण यही बताया कि मुसलमान भारत के भावी प्रशासन में बराबर के साझीदार होना चाहते थे।[५४] यह माँग किसी भी प्रजातान्त्रिक आधार पर उचित नहीं ठहराई जा सकती थी। इसलिए किसी समझौते का प्रश्न ही नहीं उठता था।

भारत में एक केन्द्रीय अथवा संघीय व्यवस्था की स्थापना को जिन्ना ने "हिन्दू राज्य का स्वप्न" कहना आरम्भ किया। मुस्लिम भावनाओं को उत्तेजित करके अपने साथ रखने के लिए उन्होंने कहा था कि "आज हम केवल एक चौथाई भारत चाहते हैं और तीन चौथाई उनके लिए छोड़ देने को तैयार हैं। यदि उन्होंने अधिक जिद की तो शायद उन्हें यह भी न मिले।"[५५] एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा कि "हिन्दुओं ने पिछले एक हजार वर्षों से भारत पर राज्य नहीं किया था। हम उन्हें ३/४ भारत राज्य करने के लिए दे रहे हैं। हमारे १/४ भारत पर लालच की दृष्टि न रखो।"[५६] उनके अनुसार भारत के मुसलमान कभी हिन्दू राज्य स्वीकार न करेंगे और परिणाम यह होगा कि देश में अव्यवस्था और अराजकता फैल जायगी।[५७] १६३६ ई० में मौलाना शौकत अली की मूर्ति का अनावरण करते हुए जिन्ना ने कहा था कि वर्तमान राजनीतिक समस्या यह थी कि इंगलैण्ड सारे भारत पर राज्य करने का इच्छुक था और गाँधीजी इस्लामी भारत के शासक बनना चाहते थे और वे दोनों में किसी एक को या समान रूप से दोनों को मुसलमानों पर

---

५१. जिन्ना की १३ सितम्बर, १६४२ की प्रेस कॉन्फ्रेन्स, तकरीरें, पृ० २०७।
५२ तकरीरें, पृ० १४१-१४२।
५३. वही।
५४. वही, पृ० १६२, १६४, १७०।
५५. वही।
५६. वही, पृ० २३०।
५७. वही, पृ० २३३, २४६।

नियन्त्रण स्थापित करने नही देंगे।[५८] १९४५ ई० में भारत में एक राज्य बने रहने के सुभाव को वे मुसलमानो की दासता का सुभाव कहते थे।[५९]

पाकिस्तान योजना के औपचारिक रूप से प्रस्तुत करने के पूर्व ही जिन्ना ने अंग्रेज सरकार के समक्ष यह माँग रखी थी कि कोई भी आगामी सुधार योजना उस समय तक लागू न की जाए जबतक उसके लिए लीग की पूर्व अनुमति न प्राप्त हो जाए[६०]। अगस्त १९४० ई० में अंग्रेजों ने लीग के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया था। इससे जिन्ना को बहुत बल मिला था।[६१] क्रिप्स योजना ने पाकिस्तान को परोक्ष रूप में स्वीकार कर लिया था जिन्ना के अनुसार इस योजना का महत्त्व ही यह था।[६२] मुसलमानों की पृथकता को स्पष्ट करने के लिये जिन्ना ने मुसलमानों को गाँधीजी के 'भारत छोडो' आन्दोलन से अलग रहने का परामर्श दिया था। उन्होंने न केवल 'भारत छोडो' आन्दोलन को ही मुसलमानों के विरुद्ध बताया बल्कि यह भी कहा कि यदि मुसलमान इसमें सम्मिलित हो गए तो फिर कांग्रेस समस्त देश का प्रतिनिधित्व कर सकेगी और मुस्लिम लीग का अस्तित्व ही खतरे में पड जायगा।[६३] १९४५ ई० मे बलूचिस्तान मे बोलते हुए जिन्ना ने इस बात में गौरव अनुभव किया था कि मुस्लिम लीग के परामर्श के अनुसार मुसलमान १९४२ ई० के आन्दोलन से बिल्कुल अलग रहे।[६४] शिमला कॉन्फ्रेन्स द्वारा कार्य-कारिणी मे हिन्दू मुस्लिम समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था और केबिनेट मिशन प्लान ने प्रान्तों के समक्ष केन्द्र के नियन्त्रण से अलग रहने का विकल्प प्रस्तुत किया था। इसके पश्चात् जिन्ना को केवल इतना कार्य करना शेष रह गया था कि वह संयुक्त भारत मे शान्ति व्यवस्था असम्भव कर दे। ऐसा कर देने पर पाकिस्तान की उपलब्धि अथवा भारत विभाजन निश्चित-सा प्रतीत होता था।

जिन्ना राजनीति में मैकयावेली का शिष्य था उसके अनुसार राजनीति में कोई निश्चित सिद्धान्त कभी नही होता।[६५] जिन्ना अपने सिद्धान्तों को परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते थे। आरम्भ मे वे पृथक् निर्वाचन प्रणाली को मुसलमानो के अधिकारो की सुरक्षा के लिये आवश्यक समझते थे। बाद मे कुछ प्रान्तो (सिन्ध और सीमाप्रान्त) को अलग कर देने पर बल देते थे और केन्द्र मे एक तिहाई स्थान प्राप्त कर लेना चाहते थे और अन्त मे वे भारत विभाजन के समर्थक थे। इसका उज्जवल

---

५८. इरशादात, पृ० ७६।

५९ वही, पृ० २२५।

६० जिन्ना द्वारा मुस्लिम लीग को दिया गया सुझाव : तकरीरें, पृ० १३५। यह घटना फरवरी १९४० की थी।

६१ तकरीरें, पृ० १८४।

६२. वही, पृ० १९७-१९८।

६३. वही, पृ० २२७, २३६-२३७ (नवम्बर १९४२)।

६४. इरशादात-ए-जिन्ना, पृ० २२२।

६५. तकरीरें, पृ० १०७।

उदाहरण इस बात से मिल सकता है कि दिसम्बर १६४० ई० में जिन्ना ने पाकिस्तान योजना के पक्ष में यह तर्क दिया था कि जिस प्रकार एक सम्मिलित परिवार में दो भाइयों के लिए मिलकर रहना असम्भव हो जाने की स्थिति में सम्पत्ति विभाजन के पश्चात् वे शान्तिपूर्वक रह सकते थे उसी प्रकार भारत विभाजन भी लाभदायक होगा।[६६] लेकिन जब १६४४ ई० में महात्मा गाँधी ने यही तर्क प्रस्तुत किया तो जिन्ना ने इसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उस स्थिति में उन्हें एक केन्द्रीय व्यवस्था के अधीन रहना पड़ता।[६७] सितम्बर १६४४ ई० में गाँधीजी भारत को दो राष्ट्रों का देश तो स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। वे इसे एक संयुक्त परिवार मान सकते थे जिसके वे मुसलमान सदस्य जो उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी भागों में बहुमत में थे, अलग रहना चाहते थे। गाँधीजी मुस्लिम लीग के लाहौर प्रस्ताव को निम्न शर्तों पर स्वीकार करने के लिये तैयार थे :

(१) निर्धारित क्षेत्रों के निवासियों की इच्छा किसी निर्वाचन अथवा अन्य पद्धति द्वारा जान लिया जाए।

(२) यदि उनका 'हाँ' में उत्तर हो तो भारत की स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् उन्हें अलग स्वतन्त्र राज्यों में संगठित कर दिया जाए।

(३) एक संधि द्वारा बाह्य सुरक्षा, आन्तरिक संचार साधन, आयात-निर्यात आदि विषयों का संचालन किया जाए।

लाहौर प्रस्ताव के परिणामस्वरूप जो व्यवस्था उत्पन्न हो सकती थी उसे गाँधीजी ने स्वीकार किया किन्तु दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। जिन्ना ने गाँधीजी के पत्र को स्वीकृत नहीं किया तथा इस समय तक उनके लाहौर प्रस्ताव में एक परिवर्तन आ चुका था। वे अब उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी भागों को पाकिस्तान के दो क्षेत्र मानने लगे थे। दोनों को दो पृथक् राज्यों में परिवर्तन के विरुद्ध हो चुके थे। जिन्ना उपरोक्त विभाजन के पश्चात् एक केन्द्रीय व्यवस्था के भी विरुद्ध थे क्योंकि वे इस प्रकार के सम्मिलित प्रबन्धों का उत्तरदायित्व दोनों देशों की संवैधानिक सभाओं को प्रदान करना चाहते थे।

जिन्ना एक कुशल वार्ताकार थे। उन्होंने गाँधीजी या राजगोपालाचारी के प्रस्तावों को इसलिए अस्वीकार किया कि ये व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किये गये थे। यदि ये प्रस्ताव ही कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत होते तब उनका कहना था कि वे उस पर विचार विमर्श कर सकते थे। वे लाहौर प्रस्ताव में निहित सिद्धान्त के लिये सहमति चाहते थे जिससे बाकी व्यवस्था पर विचार बाद में हो सके।

यदि हम जिन्ना के लक्ष्य को ध्यान में रखें और १६३६ ई० के पूर्व के कार्यों पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि जिन्ना के विचारों में कोई मौलिक परिवर्तन

---

६६ तकरीरें, पृ० १६२-१६३।

६७. सी. एच. फिलिप्स : दी इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान (१८५८-१६४७), पृ० ३३६-३३८।

१६३६–३८ ई० के मध्य नहीं आया था। जिन्ना के विभिन्न भाषणों को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जिन्ना १६४०–४६ ई० के मध्य भी बहुधा यह कहते थे कि कांग्रेस और लीग को आपस में कोई समझौता कर लेना चाहिये था लेकिन वे समझौता इसी आधार पर चाहते थे कि हिन्दू मुस्लिम समानता केन्द्र मे स्थापित हो जाए और मुसलमान केन्द्रीय प्रशासन में जनसंख्या मे एक चौथाई होते हुए भी समानता प्राप्त कर लें। यह किसी भी प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त पर सम्भव नहीं था इसलिए कोई समझौता भी सम्भव नहीं हुआ।

बहुधा यह प्रश्न भी पूछा जाता है कि क्या भारत विभाजन अवश्यंभावी था? सैद्धान्तिक स्तर पर इसका उत्तर 'नहीं' में ही दिया जा सकता है। लेकिन मुसलमान नेताओ की 'समानता' की माँग किसी अन्य आधार पर पूरी नहीं हो सकती थी।

८

आधुनिक मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र बिन्दु

आधुनिक भारत के विभिन्न मुख्य मुस्लिम राजनीतिक विचारकों ने भारतीय मुसलमानों को राजनीतिक समस्या के सम्बन्ध में जागरूक बनाया। इन विचारकों में मोहम्मद अली जिन्ना को छोड़कर शेष सब व्यक्ति इस्लाम और इस्लामी सभ्यता से भलिभांति परिचित थे। शाह वली उल्लाह, अजीज अहमद, सर सैयद अहमद खाँ, मौलाना अबुल कलाम आजाद, मोहम्मद इकबाल, प्रत्येक ने कुरान के अर्थ बताने का प्रयत्न किया और प्रत्येक ने कुरान की एक नई व्याख्या की। प्रत्येक नेता ने इस व्याख्या को अपने राजनीतिक कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग माना था। इन नेताओं ने अपने विभिन्न विचारों और नीतियों को कुरान पर आधारित किया था। इस कार्य के पीछे यह भावना कार्य कर रही थी कि मुसलमानों को प्रभावित करने के लिए 'कुरान' के अतिरिक्त कोई भी अन्य स्रोत इतना अधिक सहायक नहीं हो सकता था। यदि सर सैयद मुसलमानों को अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान बनाना चाहते थे तो उन्होंने कुरान और हजरत मोहम्मद के जीवन से उदाहरण देकर अपनी नीति को पुष्ट किया था। यदि अबुल कलाम आजाद मुसलमानों को आत्मनिर्भर तथा अंग्रेजों पर आश्रित रहने से मुक्त करना चाहते थे और एक पृथक् दल के रूप में गठित करना चाहते थे तब उन्होंने भी कुरान से प्रेरणा ली थी। मोहम्मद अली ने १९१५-१९१९ ई० के मध्य कुरान और हदीस का अध्ययन किया था और अपने विभिन्न भाषणों में खलीफा के धार्मिक नेता होने पर बल दिया था। इकबाल भी इस्लामी दर्शन के अध्ययन करने के पश्चात् ही मुसलमानों को अधिक प्रभावित कर सके थे। जिन्ना ही ऐसे व्यक्ति थे जो आरम्भ में इस्लामी रंग में रंगे हुए नहीं थे लेकिन मुसलमानों का एक प्रभावशाली नेता बनने के लिए स्वयं उन्हें भी इस्लामी रंग में रंगना पड़ा। इकबाल, आजाद और मोहम्मद अली ने मिल्लत की एकता का विचार भी कुरान के आधार पर उचित ठहराया था। यही कारण था कि मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन धर्म से जुड़ा रहा और विभिन्न अथवा परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के

लिए भी एक ही प्रेरणा स्रोत ढूंढा जाता रहा। इसीका परिणाम यह हुआ कि इस राजनीतिक चिन्तन में सामाजिक और आर्थिक तत्वों का प्रभाव कम रहा। वर्तमान समय में इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि मुसलमानों की पददलित आर्थिक स्थिति अथवा हिन्दू समाज की संकीर्णता को मुस्लिम पृथकता के लिए दोषी ठहराया जाए। यह तर्क किसी एक निश्चित तथा सीमित क्षेत्र के अध्ययन जैसे बंगाल में सामान्यतः मुसलमानों को कृषक वर्ग में होना अथवा मोपला विद्रोह के लिए वहाँ के हिन्दू जमीदारों को दोषी ठहराना या अन्य प्रदेशों में सामाजिक बहिष्कार आदि से संभवतः उचित सिद्ध हो सकता है। किन्तु इसमें तुरन्त यह प्रश्न पैदा होता है कि मुस्लिम राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व किस प्रकार निर्धारित होता था ? इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वे मुस्लिम वर्ग जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे मुस्लिम आन्दोलन का नेतृत्व कर सके थे। पचास वर्षों तक चल रहे मुस्लिम राजनीतिक आन्दोलन में किसी समय आर्थिक तत्व नेतृत्व निर्धारण में निर्णायक सिद्ध नहीं हुए थे।

एक अन्य कठिनाई इस सन्दर्भ में और उत्पन्न हो जाती है, और वह यह है कि मुसलमान कृषकों के साथ हिन्दू कृषक भी होते थे और कृषकों की स्थिति सामान्यतः एक-सी ही थी तब मुसलमान कृषक हिन्दू कृषकों के साथ मिलकर आर्थिक आधारों पर एक आन्दोलन क्यों नहीं आरम्भ कर सके ? मुसलमान जमींदार हिन्दू जमींदारों के साथ वर्ग हितों की सुरक्षा के लिए क्यों नहीं मिलकर कार्य कर सके। सर सैयद अहमद ने १८८८ ई० में पैट्रियोटिक एसोसिएशन बनाने में इस बात का प्रयत्न किया था किन्तु उन्होंने भी इस प्रयत्न को शीघ्र ही छोड़ दिया था। यहाँ यह और ध्यान रखने योग्य बात है कि मुस्लिम विचारक एवं नेता मुस्लिम सम्प्रदाय की एकता को बनाए रखना चाहते थे और आर्थिक अथवा सामाजिक कारणों से प्रभावित आन्दोलन मुस्लिम सम्प्रदाय को विभिन्न वर्गों में विभाजित कर सकता था। इसलिए मुसलमान नेताओं ने इन तत्वों की ओर ध्यान कम दिया और मुस्लिम सम्प्रदाय की एकता को बनाए रखने पर अधिक ध्यान दिया था। यह लक्ष्य केवल "मिल्लत की एकता" पर बल देने से ही प्राप्त हो सकता था। इसीलिए मिल्लत की एकता का विचार अधिकांश राजनीतिक विचारकों के चिन्तन में प्रमुख बना रहा।

'मिल्लत की एकता' को विभिन्न लेखकों ने सर्वइस्लामवाद (पैन इस्लामिज्म) कहा है उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में खिलाफत आन्दोलन का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यदि इन राजनीतिक विचारकों की यह व्याख्या ठीक मान ली जाय तब यह बात समझ में नहीं आती कि वे विचारक एक पृथक् राज्य के निर्माता किस प्रकार बने और यदि 'मिल्लत की एकता' का अर्थ सर्वइस्लामवाद था तब किसी भी विचारक ने विश्व के इस्लामी देशों का एक संघ बनाने अथवा विभिन्न देशों को एक इस्लामी साम्राज्य के अधीन रहने के लिए क्यों नहीं कहा था।

यहाँ यह बताना भी उचित लगता है कि मौलाना मोहम्मद अली के अतिरिक्त

मौलाना आजाद और मोहम्मद इकबाल ने भी मिल्लत की एकता पर अत्यधिक बल दिया था और इसकी विस्तृत व्याख्या की थी। किन्तु उन्होंने प्रचलित अर्थ में "पैन-इस्लामिज्म" स्वीकार नहीं किया था। मौलाना आजाद ने कहा था कि "जिस पैन इस्लामिज्म को यूरोप प्रस्तुत कर रहा है उसका कोई अस्तित्व यूरोपवासियों के शंकालु मस्तिष्क के बाहर कहीं नहीं है।"[1] इसी भाषण में उन्होंने कहा था, "यदि पैन इस्लामिज्म का अस्तित्व होता तो क्या यह सम्भव था कि हमारे सामने ईरान पर कयामत बीत जाती, मराक्को समाप्त हो जाता, ट्रिपोली में मुसलमानों के शव पड़े तड़पते और हमारे हृदय में कोई वास्तविक हलचल न होती"[2] ? मोहम्मद इकबाल ने भी मिल्लत की एकता का गुणगान किया था और अपनी विभिन्न कविताओं तथा लेखों में इस्लाम के अनुयाइयों को एक हो जाने के लिए कहा था लेकिन साथ ही उन्होंने खिलाफत आन्दोलन का समर्थन भी नहीं किया था। 'पैन इस्लामिज्म' के विचार की निरर्थकता को यह कहकर स्पष्ट किया था कि इस शब्द का कोई भी पर्यायवाची शब्द अरबी, तुर्की अथवा फारसी भाषा में नहीं था इसलिए यह भावना मूल रूप में इस्लाम के अनुयाइयों की नहीं हो सकती थी। १६वीं शताब्दी में जमालुद्दीन अफगानी इस्लामी मिल्लत की एकता के विचार के पहले समर्थक कहे जाते हैं।[3] उन्होंने भी विभिन्न इस्लामी राज्यों को एक राज्य में विलय हो जाने के लिए नहीं कहा था। इसलिए मिल्लत की एकता का अर्थ सर्वइस्लामवाद अथवा पैन इस्लामिज्म लगाना गलत है।

मिल्लत की एकता का सही अर्थ समझने के लिए उन कारणों को समझ लेना आवश्यक है जिनसे प्रभावित होकर यह विचार प्रस्तुत किया गया था। साथ ही यह भी देख लेना चाहिए कि मिल्लत की एकता की दुहाई देकर वे नेता मुसलमानों को किस मार्ग पर चलाने की बात कहते थे। मौलाना आजाद ने इस विचार को १६१२ ई० में अलहिलाल के माध्यम से फैलाया था। उनका मुख्य अभिप्राय अलीगढ़ विचार पद्धति के विरुद्ध मुसलमानों को संगठित करना था। अलीगढ़ पद्धति के नेता मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति निष्ठा और भक्ति भाव पैदा करने के लिए कहते थे। मौलाना आजाद इस पद्धति के विरुद्ध मुसलमानों को ले जाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने मुसलमानों के समक्ष उन मुस्लिम देशों की स्थिति का वर्णन किया जहाँ पर इंगलैण्ड अथवा अन्य यूरोपीय ईसाई शक्तियाँ मुसलमान

---

१ आजाद का २७ अक्टूबर, १६१४ का भाषण, खुतबात-ए-अबुल कलाम आजाद, पृ० २०।

२. वही पृ० २१।

३. जमालुद्दीन अफगानी (१८३८–६७) विभिन्न देशों में घूमे हुए थे। वे मुस्लिम देशों की खराब स्थिति देखकर बहुत चिन्तित हुए थे। पश्चिमी साम्राज्यवाद से बचने का उन्होंने एक उपाय "पैन इस्लामिज्म" बताया था। वे अधिकांशतया इस्लामी देशों की समस्या से परिचित थे और उन देशों को एक-दूसरे की सहायता के लिए तत्पर रहने की सलाह देते थे।

राज्यों पर अत्याचार कर रही थी। वे चाहते थे कि यदि भारतीय मुसलमान अन्य देशों के मुसलमानों की स्थिति को समझ लें तो वे अंग्रेजों के प्रति भक्ति-भाव से सन्तुष्ट नहीं रह सकते थे और इस प्रकार अलीगढ़ पद्धति का प्रभाव कम हो जायेगा।

मौलाना मोहम्मदअली आरम्भ में अलीगढ विचारधारा से प्रेरित थे किन्तु १९११–१३ की घटनाओं से वे अंग्रेज विरोधी बन गए थे। अंग्रेजों के विरुद्ध और अलीगढ विचारधारा से भिन्न मुसलमानों को संगठित करने के लिये उन्होंने मिल्लत की एकता का समर्थन किया था और इस कार्य के लिए 'खलीफा' और उसके समर्थक आन्दोलन को अपना लक्ष्य बना लिया था। मौलाना मोहम्मद अली ने खलीफा को 'धार्मिक नेता' बताया था किन्तु मौलाना आजाद ने खलीफा को राजनीतिक अधिकारी तथा इस्लामी 'जमाअत' का केन्द्र बिन्दु बताया था। मोहम्मद इकबाल ने खिलाफत आन्दोलन का समर्थन करने से ही इन्कार कर दिया था क्योंकि वे इस आन्दोलन को 'दरवीजागिरी' (भिक्षा मांगना) मानते थे। वे तो इस आन्दोलन को मिल्लत की एकता को नष्ट करने वाला समझते थे क्योंकि इससे हिन्दू और मुसलमान एक ही मंच पर एकत्र हो गये थे। इस प्रकार मिल्लत की एकता के समर्थक उस मिल्लत के अध्यक्ष के प्रति तीन अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाए हुए थे। ऐसी स्थिति में मिल्लत की एकता को सर्वइस्लामवाद की संज्ञा देने वालों के समक्ष एक नई समस्या पैदा हो जाती है कि मिल्लत की एकता के प्रतिपादक इस सर्वइस्लामवाद के प्रतीक के लिये बिल्कुल भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण क्यों रखते थे? क्या मिल्लत की एकता का वह अर्थ जो सामान्यतः समझा जाता है ठीक है?

इसी प्रकार अंग्रेजी सरकार के प्रति इन तीनों मिल्लत की एकता के समर्थकों का भिन्न दृष्टिकोण था। मौलाना मोहम्मद अली १९३० ई० में अंग्रेजों से 'युद्ध' चाहते थे जिसके लिए वे भारत की अन्य कौमों से लड़ सकें।[४] वे मिल्लत की एकता में विश्वास रखने हुए मुसलमानों को अल्पसंख्यक मानते थे और उनके अधिकारों के लिये विशिष्ट सुविधाओं तथा अधिकारों की मांग करते थे। मौलाना आजाद अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक वर्गों के हिसाब से नहीं सोचते थे। वे भारत के मुसलमानों को एक दीवार की भांति संगठित करना चाहते थे और राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मिलकर अंग्रेजों से भारत की स्वतन्त्रता चाहते थे। मोहम्मद इकबाल मिल्लत की एकता की दुहाई देकर उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुसलमानों को एक पृथक् राज्य में संगठित करना चाहते थे क्योंकि वे मुसलमानों को धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आधारों पर हिन्दुओं से अलग मानते थे इसलिए वे जिन्ना को यह परामर्श देते थे कि एक पृथक् राज्य स्थापित किया जाए। मिल्लत की एकता के विचार के एक प्रमुख समर्थक द्वारा भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग के मुसलमानों के

---

४. मोहम्मद अली का गोलमेज सम्मेलन में भाषण।

लिये एक पृथक् राज्य बनाए जाने की मांग प्रस्तुत करना विचित्र लगता है। मिल्लत की एकता को यदि सर्व इस्लामवाद के अर्थों मे लिया जाए तब उत्तर-पश्चिमी भारत के लिये मुसलमानों के लिए अन्य इस्लामी राज्यों में विलय होने की बात कही जानी चाहिए थी। यह ध्यान देने की बात है कि मिल्लत की एकता और भौगोलिक आधार पर एक पृथक् इस्लामी राज्य की स्थापना वाह्य रूप से परस्पर विरोधी दिखाई पड़ते हैं और दोनों एक ही विचारक 'इकबाल' के चिन्तन में मिलते हैं। यदि मिल्लत की एकता का ठीक अर्थ समझ लिया जाय तब उपरोक्त परस्पर विरोधी विचारों की कठिनाई दूर हो सकती है।

मिल्लत की एकता का अर्थ सर्व इस्लामवाद कदापि नही था क्योंकि किसी भी नेता ने समस्त इस्लामी जगत के लिये एक राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकता पर कभी बल नही दिया था। मिल्लत की एकता का लक्ष्य मुख्यतः भारतीय मुसलमानों को अल्पसंख्यक होने की हीन भावना से बचाना था इसलिये उन्हें विश्व के समस्त मुस्लिम सम्प्रदाय से सम्बन्धित करना था। मौलाना आजाद संख्या पर कोई महत्त्व नहीं देते थे लेकिन वे भारत के समस्त मुसलमानों को संगठित अवश्य करना चाहते थे। मिल्लत की एकता पर बल देने का अभिप्राय था कि सामाजिक और आर्थिक तत्त्व कम महत्त्वपूर्ण हो जाये और भारतीय मुसलमान अपने राजनीतिक उद्देश्यों को मिल्लत पर अधिक आधारित मान ले। यही कारण था कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस का आर्थिक और राजनीतिक प्रोग्राम मुसलमानों मे कम लोकप्रिय रहा। नेशनलिस्ट मुसलमान नेता भी मुसलमानों मे इतने लोकप्रिय नही हो सके थे। इसीलिए जिन्ना बाद मे यह चेतावनी दे सके थे कि नेशनलिस्ट मुसलमानों को मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों मे अपनी लोकप्रियता को स्थापित करके देखना चाहिए। कोई भी मुसलमान नेता मिल्लत की एकता का विरोध नही कर सकता था इसलिए जब साम्प्रदायिक और राष्ट्रवादी मुसलमान नेता मुसलमानो को संगठित करने के लिये निकले तो राष्ट्रवादी नेता इस दौड़ मे बहुत ही पीछे रह गये। इस बात की परीक्षा का अवसर १९३७ ई० के पश्चात् ही उत्पन्न हुआ जब मताधिकार अपेक्षाकृत अधिक लोगों को उपलब्ध हो गया था। मिल्लत के हितों की सुरक्षा की आवश्यकता का नारा १९३८–१९३९ ई० के पश्चात् जिन्ना द्वारा प्रस्तुत किया गया और इसकी सफलता भी आश्चर्यजनक रही क्योंकि पिछले ३० वर्षों मे सब प्रभावशाली नेता मिल्लत की एकता पर बल देते थे।

इकबाल ने मिल्लत की एकता की बात इसलिए कही थी कि अन्य किसी आधार पर मुस्लिम समुदाय को संगठित नही किया जा सकता था। वे जानते थे कि भारतीय मुसलमानो में जातीय और वंशीय भेद काफी प्रभावशाली थे इसलिए उन्होंने मुसलमानो को तुरानी, ईरानी, अफगानी, हिन्दुस्तानी का भेद भूल जाने के लिए कहा था। इसके अतिरिक्त मिल्लत की एकता का विचार उस समय अधिक प्रतिपादित किया गया था जबकि 'वतन' (देश) के आधार पर एकता के सिद्धान्त

का प्रचार किया जा रहा था। मौलाना आजाद और इकबाल दोनों ने 'वतन' के आधार पर एकता का खण्डन किया था। यद्यपि दोनों के ऐसा करने मे कुछ वर्षो का अन्तर था और दोनों के उद्देश्य भिन्न थे। मौलाना आजाद 'वतनियत' के विचार को पश्चिमी नेताओ द्वारा प्रस्तुत एक षड्यन्त्रकारी सिद्धान्त मानते थे जिसके आधार पर पश्चिमी शक्तियाँ द्वारा एक-एक करके इस्लामी राज्यों को समाप्त किया जा रहा था।[५] १९१२ ई० में उन्होंने अलहिलाल में लिखा था।

"तुर्कों की प्रतिष्ठा का समाप्त होना समस्त इस्लामी जगत की शव-यात्रा के समान होगा""""जब कभी किसी इस्लामी देश पर कोई अत्याचारी आक्रमण करे उस समय प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य "जिहाद" हो जाता है।"[६]

१९१४ ई० मे कलकत्ते मे भाषण करते हुए उन्होंने कहा था—'इस्लाम के निकट, वतन, स्थान, रंग व भाषा का बटवारा कोई वस्तु नही"""मुस्लिम का घराना किसी विशिष्ट वतन और स्थान से सम्बन्ध नही रखता"""यदि युद्ध स्थल मे किसी तुर्क के पाव मे एक काटा चुभ जाए तो"""भारत का मुसलमान मुसलमान नही हो सकता जबतक वह उस पांव की पीड़ा को अपने हृदय में अनुभव न करें क्योंकि इस्लामी मिल्लत एक शरीर है और मुसलमान किसी भी स्थान पर हों उस शरीर के अंग है।"[७]

इकबाल ने मिल्लत की एकता के विचार को इस दावे के उत्तर में प्रस्तुत किया था कि भारतवासी एक कौम के सदस्य थे। एक कौम के विचार के प्रस्तुत कर्ताओं का कथन था कि कौम का आधार वतन (देश) होता है और भारत देश के समस्त रहने वाले एक कौम के सदस्य थे। इसके विपरीत इकबाल का कथन था कि 'वतन का आधार कौम होता है'। इकबाल का तर्क अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं दूरगामी था। इन शब्दो के हेर-फेर से बहुत अन्तर पड़ गया था। इकबाल भी मुसलमानो के लिए एक पृथक राज्य की कल्पना करते थे लेकिन वे पहले मुसलमानो को एक कौम बनाना चाहते थे। उनके अनुसार पहले मुसलमानो को मिल्लत के आधार पर एक कौम बन जाना चाहिए उसके बाद ही वे एक वतन की कल्पना कर सकते थे। इसलिए उन्होंने मिल्लत की एकता के सिद्धान्त पर मुसलमानों को भारतीय कौम के सदस्य बनने से अलग कर दिया और फिर इसी मिल्ली एकता के आधार पर एक निश्चित क्षेत्र (उत्तर पश्चिमी भारत) के रहने वालों के लिये एक पृथक राज्य की कल्पना का प्रतिपादन किया।

इस प्रकार मिल्लत की एकता वास्तव में भारतीय मुसलमानों के पृथक संगठन का आधार बनी। इसे सर्व इस्लामवाद का प्रतीक समझना ठीक नही है।

---

५. खुतबात-ए-आज़ाद, पृ० १७।

६. सिलसिला मज़ामीन मौलाना आज़ाद, न० ३, पृ० २९-३१। यह निबन्ध ६ नवम्बर, १९१२ के अलहिलाल मे छपा था।

७. खुतबात, पृ० ११-१४।

यह मिल्लत की एकता ही भारतीय मुसलमानों के पृथक्कीकरण और अपने पड़ोसियों के साथ सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों की अनदेखी करने में सहायक हुई।

एक दूसरा तत्त्व जो इन विचारकों के चिन्तन में प्रमुख रहा है वह है मुसलमानों की उच्चता में विश्वास। यह तत्त्व तर्क शून्य एवं विवेकरहित था, किन्तु इसका विशेष प्रभाव शाहवली उल्लाह से लेकर मौलाना आजाद और इकबाल तक सब नेताओं पर पड़ा है। शाहवली उल्लाह ने मुसलमानों की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के लिये अहमदशाह अब्दाली को भारत पर आक्रमण के लिये आमन्त्रित किया था। इस पत्र में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि उस स्थिति में मुसलमानों की खोई हुई प्रधानता को पुनः स्थापित कराने वाला और कोई अन्य शासक नहीं हो सकता था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब मुसलमानों की स्थिति सुधारने के सम्बन्ध में आन्दोलन आरम्भ हुआ तब यह बहुधा कहा जाता था कि भारतीय मुसलमान भारत पर शताब्दियों तक राज्य कर चुके थे और शासकों का रक्त उनकी नसों में दौड़ता था। सर सैयद ने यह बात अपने उन विभिन्न भाषणों में कही थी जिनमें उन्होंने कांग्रेस का विरोध किया था अथवा मुसलमानों में इस आन्दोलन में अलग रहने को कहा था।

सर सैयद ने लोक सेवाओं में भर्ती को सत्ता प्राप्ति का एकमात्र साधन कहा था इसलिए वे केवल अंग्रेज़ी प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर नौकरियों में स्थान नहीं चाहते थे। वे कलम के स्थान पर तलवार की प्रतियोगिता परीक्षा चाहते थे। उन्होंने कहा कि इस परीक्षा के आधार पर ही मुसलमानों ने अपने राज्य स्थापित किये थे। भारतीय मुसलमानो को शासकों के वंशज बताकर उनके लिए विशिष्ट सुविधाओं की कल्पना करना बहुत सरल था। यह विशिष्ट हितों की कल्पना एक दोधारी तलवार सिद्ध हुई। एक ओर तो इस कल्पना ने मुसलमान नेताओं को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखा। राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य अंग्रेज़ो से स्वाधीनता तथा स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करना था। इस आन्दोलन में सब वर्गों का सहयोग केवल जनतान्त्रिक परम्परा के अनुसार ही हो सकता था जिसका अर्थ था कि प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार सब नागरिक कार्य करें। इस प्रणाली के अन्तर्गत किसी भी वर्ग को उसके इतिहास के आधार पर महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान नहीं किया जा सकता था। मुसलमानों की उच्चता को अन्य आधारों पर भी ठीक ठहराया गया था। मौलाना आजाद के अनुसार विश्व का अन्तिम धर्म केवल मुसलमानो की ही सम्पत्ति थी। वे ही ईश्वर की ओर से विशेष रूप से इस धर्म प्रचार के लिये चुने गये थे। दूसरी ओर इस कल्पना ने मुसलमानों को बहुधा अंग्रेज़ों के कृपा-पात्र बनने की ओर प्रेरित किया। अंग्रेज़ साम्राज्यवादी भी राष्ट्रीय आन्दोलन को दुर्बल बनाने के लिये 'विभाजन और फूट' की नीति का प्रयोग करते थे किन्तु मुसलमान स्वयं भी राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रहने के लिए इच्छुक थे। सर सैयद ने अंग्रेज़ी साम्राज्य के स्थायित्व की कल्पना को लाभदायक समझा था क्योंकि यह विदेशी

नियन्त्रण ही मुसलमानों के विशिष्ट हितों का समर्थक हो सकता था। इसमें सन्देह नहीं है कि १९११ ई० के बंगाल विभाजन के समाप्त किये जाने से मुसलमानों की अंग्रेजी साम्राज्य पर आस्था रखने की नीति को ठेस पहुँची थी और फलस्वरूप वे कुछ वर्षों तक अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन में साथ रहे किन्तु यह कार्य एक प्रकार से अंग्रेजों की नीति के प्रति रोष अभिव्यक्ति के समान था। मुसलमानों की इस नीति ने अंग्रेजों को उनके विशिष्ट महत्व को स्वीकार करने पर बाध्य किया था। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि हिन्दुओं के साथ 'सहयोग' के समय में भी उन्होंने अपने पृथक हितों को नहीं छोड़ा था। इस समय में लाभ यह अवश्य हुआ कि मुसलमान नेता सामान्य मुसलमानों को राजनीति की ओर आकर्षित कर सके।

मुसलमानों के राजनीतिक चिन्तन की ओर ध्यान न देकर राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न इतिहासकार उन तात्कालिक कारणों की खोज करते रहे हैं जो १९२३ ई० के पश्चात् मुसलमानों को कांग्रेस से अलग करने के लिए उत्तरदायी हुए थे। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि विभिन्न लोग अलग-अलग उत्तर प्रस्तुत करते। गांधीजी के खिलाफत समर्थन में दोष देखना, हिन्दू महासभा तथा उग्र हिन्दूवाद अथवा अंग्रेजों की भेदनीति अथवा असहयोग आन्दोलन को अचानक ही बन्द कर देना अथवा शुद्धि संगठन, तबलीग, तन्जीम को दोषी ठहराना केवल बाह्य कारणों की खोज करना है। यह सब कारण किसी न किसी मात्रा में अवश्य उत्तरदायी रहे थे किन्तु इनका योगदान गौण था। मुख्य उत्तरदायित्व राजनीतिक अधिकारों की उस मौलिक कल्पना का था जिसके अनुसार मुसलमान अपने लिए विशिष्ट अधिकारों की आवश्यकता समझते थे। १९११ ई० में बंगाल विभाजन के समाप्त करने से मुसलमानों की अंग्रेजों पर आश्रित रहने की नीति को धक्का लगा? १९१२–२३ ई० के मध्य कांग्रेस के साथ सहयोग करके उससे पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली और अधिप्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों को स्वीकार करवा लेना मुसलमान राजनीतिज्ञों की बड़ी भारी सफलता थी। १९२३ ई० के पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्ति तक फिर कभी कांग्रेस के साथ मुसलमानों का उतना व्यापक सहयोग नहीं हुआ क्योंकि मूलभूत सिद्धान्त कांग्रेस के द्वारा स्वीकृत हो चुके थे। अब तो केवल उनके क्रियान्वित कराने का प्रश्न शेष रह गया था। इसीलिए १९१६ ई० से १९४० ई० तक निरन्तर मुसलमान माँगों की सूची में वृद्धि होती रही। यह वृद्धि परिस्थितियों के अनुकूल बढ़ती रही जैसे-जैसे अंग्रेज सरकार पर कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का दबाव अधिक बढ़ता गया और अंग्रेज सरकार अधिक सुविधायें देने पर बाध्य होती दिखाई पड़ी वैसे-वैसे मुसलमानों की माँगें बढ़ती गयी।

मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन करते समय एक प्रश्न निरन्तर उत्पन्न हो जाता है—क्या कारण था कि मुसलमानों की माँगें निरन्तर बढ़ती गई? १९०६ ई० में पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन और अधिप्रतिनिधित्व की माँग प्रस्तुत की गई जो १९१६ ई० में सुरक्षित स्थान देकर और निर्वाचन पद्धति पर समझौता करके

पूरी कर दी गयी। १६२७-२८ ई० में सिन्ध, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को पृथक करना और बंगाल तथा पंजाब में मुस्लिम बहुमत स्थापित करना, लक्ष्य निर्धारित किया गया जो १६३५ ई० के सुधारों द्वारा पूरा कर दिया गया। प्रान्तीय स्वायत्त प्रशासन मुख्यतः मुसलमानों की माँगों को ध्यान में रखकर ही स्थापित किया गया था। इससे भी सन्तुष्ट न होकर १६४० ई० में लाहौर प्रस्ताव द्वारा पाकिस्तान की माँग की गई। १६४०-४४ ई० के मध्य ऐसा प्रतीत होता था कि शायद कोई समझौता निकल आए, किन्तु १६४७ ई० में अन्ततः भारत विभाजन हुआ।

बहुधा यह कहा जाता है कि मुसलमानों की इस निरन्तर बढ़ती हुई माँग के पीछे अंग्रेज साम्राज्यवादी सरकार का हाथ था। इतिहास की अन्य प्रमुख घटनाओं की भाँति मुस्लिम पृथक्कीकरण की समस्या का एक सरल उत्तर संभव नहीं है फिर भी मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख मन्तव्य भारतीय मुसलमानों को राजनीतिक दृष्टि से हिन्दुओं के अधीन रहने से बचाना था। इस चिन्तन में मुसलमानों के लिये ऐसे अधिकार प्राप्त करने की कल्पना थी जिससे मुसलमान उस स्थिति को न पहुँचे जो एक प्रजातन्त्र में 20% वाले अल्प संख्यक वर्ग की नियति हो सकती थी। इन राजनीतिक विचारकों की यह मान्यता थी कि भारतीय मुसलमान किसी प्रकार से हिन्दुओं के जिन पर उन्होंने शासन किया था अधीन न रहें। प्रत्येक विचारक के विचारों से उद्धरण प्रत्येक पाठ में दिये गये हैं। इन विचारों की योजनाएँ परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहीं। ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही उनका औचित्य उपलब्ध होता है। १८८७ ई० में सर सैयद अहमद के समय में केवल प्रश्न इस बात का था कि भारत में कुछ प्रतिनिधित्व प्रशासन की स्थापना की जाए तथा भारत-वासियों को लोकसेवाओं में अधिक स्थान उपलब्ध हो। सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध यह सोचकर किया था कि उन माँगों की पूर्ति को रोकने में यह विरोध पर्याप्त होगा। यह उनके राजनीतिक कार्यक्रम को पूरा करने में केवल नकारात्मक कार्य था। सकारात्मक रूप में मुसलमानों के लिये स्थानों का आरक्षण, अधि प्रतिनिधित्व और साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति की माँग प्रस्तुत की गई थी। यह माँगें २०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों तक पर्याप्त रही।

असहयोग आन्दोलन, स्वराज्य पार्टी का सरकार के लिए बाधाएँ उत्पन्न करना और साइमन कमीशन नियुक्ति की घोषणा के पश्चात् यह आवश्यक हुआ कि मुसल-मानों की माँगों को नए सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जाए। इसलिए मार्च १६२७ ई० के दिल्ली प्रस्ताव पास किये गये जिनमें मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में मुसलमानों के लिये पूर्ण अधिकारों की माँग की गयी थी। इससे मुसलमानों को उन प्रान्तों में हिन्दुओं के प्रति वही नीति अपना सकने का अवसर मिला जो उनके प्रति हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्तों में अपनाई जायगी। इस प्रकार वे हिन्दुओं के साथ समानता बनाए रख सकेंगे।

१६३०-३२ की गोलमेज सम्मेलन तथा १६३५ द्वारा स्थापित प्रान्तीय

स्वायत्त प्रशासन से यह स्पष्ट हो गया था कि निकट भविष्य में केन्द्रीय स्तर पर भी प्रशासनिक अधिकार भारतवासियों को हस्तान्तरित होंगे। इसलिए आवश्यकता इस बात की हुई कि कोई योजना इस प्रकार की प्रस्तुत की जाए जिससे मुसलमान एक अल्प-संख्यक वर्ग की भांति न रह जाएँ। यह एक असंगत लक्ष्य था कि प्रजातन्त्रीय पद्धति में एक अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग के 'समान' अधिकारों की मांग रखे यह मांग किसी भी विशिष्ट प्रतिनिधित्व अथवा आरक्षित पद्धति पर क्रियान्वित नहीं हो सकती थी। इसलिए १९४० ई० में पाकिस्तान प्रस्ताव रखा गया था।

१९४० ई० के पश्चात् (विशेषकर १९४५ ई० की शिमला कान्फरेन्स में) यह प्रतीत होता था कि जिन्ना इस बात पर शायद जिद न करें कि पाकिस्तान स्थापित ही किया जावे। सैद्धान्तिक रूप में शायद यह बात ठीक हो किन्तु जिन्ना पाकिस्तान की मांग को केवल उस समय छोड़ने के लिये तैयार थे जबकि केन्द्रीय सरकार में मुसलमानों को हिन्दुओं के समान स्थान उपलब्ध हो। इससे कम पर कोई समझौता न तो हुआ था और न सभव ही था।

इस प्रकार मुस्लिम राजनीतिक नेता प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में एक अल्पसंख्यक वर्ग को जिसे धार्मिक और मिल्लत के आधार पर गठित किया गया था, बहुसंख्यक वर्ग के समान अधिकार दिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। मिल्लत की एकता का अर्थ भारतीय मुसलमानों को संगठित करना और फिर उस आधार पर एक पृथक राज्य की मांग करना था।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(केवल मुख्य स्रोतों तथा पुस्तकों का ही वर्णन किया गया है)

अध्याय–१

१. मौलाना उबैदुल्ला सिन्धी : शाहवली उल्लाह और उनकी सियासी तहरीक (लाहौर, १९४४)

२. मौलाना उबैदुल्ला सिन्धी : शाहवली उल्लाह और उनका फलसफा (लाहौर, १९४४)

३. शेख मोहम्मद इकराम : रौदे कौसर (लाहौर)

४ खलीक अहमद निजामी : शाहवली उल्लाह के सियासी मकतूबात (द्वितीय संसकरण, देहली, १९६९)

अध्याय–२-३

१. सैयद अहमद खाँ (सर) : असबाब बगावत-ए-हिन्द (१८५८)

२. ,, : लोयल मोहम्डन्स ऑफ इण्डिया, भाग १–३ (१८६०-६१)

३. ,, : रिवीव ऑन डॉ० हन्टर्स इण्डियन मुसलमान्स (१८७२)

४. ,, : प्रेजेन्ट स्टेट ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स (१८८८)

५. ,, : मुसलमानों की किस्मत का फैसला (१८९४)

६. ,, : आखिरी मजामीन (१८९८)

७. सैयद रास मसूद (सम्पा०) : खतूत-ए-सर सैयद (१९३१)

८. मुन्शी सिराजुद्दीन (सम्पा०) मजमुए लेक्चर्स सर सैयद (१८९०)

९. मौलवी सैयद इकबालअली (सम्पा०) : सफरनामा-ए-पंजाब (१८८४)

१०. मोहम्मद अब्दुल्ला खाँ (सम्पा०) : मकालात-ए-सर सैयद (१९५२)

११. अलताफ़ हुसैन हाली : हयात-ए-जावेद (१९३९)
१२. मौलाना मोहम्मद इस्माइल : मकालात-ए-सर सैयद, भाग १–१२
१३. मोहसिन उलमुल्क : एड्रेसिज़ एण्ड स्पीचिज़ रिलेटिंग टू दी एम. ए. ओ. कॉलिज (१८९८)
१४. मौलवी मोहम्मद अमीन जुबेरी : हयात-ए-मोहसिन (१९३४)
१५. मौलवी मोहम्मद अमीन जुबेरी : मकातीब
१६. मोहम्मद हबीबुर्रहमान : असार-ए-हयात (१९२५)
१७. फज़लुद्दीन : मोहसिन उलमुल्क की स्पीचों और लेक्चरों का मजमूआ (१९०४)
१८. तुफ़ैल अहमद : मुसलमानों का रोशन मुस्तकबिल (१९३८)
१९. मौलवी अनवर अहमद जुबेरी : गुलबाग-ए-आलिया, भाग १–२
२०. मोहम्मद अमीन जुबेरी : मुसलमानान-ए-हिन्द की सियासत मिल्ली (१९३८)
२१. मोहम्मद अमीन जुबेरी : सियासत-ए-मिल्लिया
२२. मज़हर अन्सारी : तारीख़-ए-मुस्लिम लीग (१९४०)
२३. मिर्ज़ा अख़्तर हुसैन : तारीख़-ए-मुस्लिम लीग
२४ उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन की १९०० की कार्यवाही (१९०१)
२५. मकालात-ए-हाली, भाग १–२
२६. इफ़्तिख़ार आलम : तारीख़-ए-मदरसतुल उलूम, अलीगढ़

अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट (१८६६ से १९०७); अलीगढ़ कॉलिज मैगज़ीन; अलीगढ़ मन्थली (१८९८-१९५५); मोहम्डन एजुकेशनल कॉन्फ्रेन्स की वार्षिक रिपोर्ट्स (१८८६-१९०७); प्रिंसिपल एम. ए. ओ. कॉलिज अलीगढ़ की वार्षिक रिपोर्ट्स (१९००-१९०८); एम. ए. ओ. कालेज अलीगढ़ की प्रबन्ध समिति रिपोर्ट्स (१८९५-१९०६); ट्रस्टियों की रिपोर्ट्स (१८९०-१९०८); लार्ड मिन्टो और कर्जन के निजी पत्र आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण मौलिक स्रोत हैं।

अध्याय–४

१. अशरत रहमानी (सम्पा०) : हयात-ए-जौहर (देहली, १९३१)
२. रईस अहमद जाफ़री (सम्पा०) : मताईबात-ए-मोहम्मद अली (हैदराबाद, १९४५)
३. मोहम्मद अली : हिन्दुस्तान की सियासी उलझनें (हैदराबाद, १९४७)

४. मोहम्मद सरूर (सम्पा०) : मजामीन-ए-मोहम्मद अली, भाग १-२ (देहली, १९४०)
५. मोहम्मद सरूर : तकारीर मौलाना मोहम्मद अली, भाग १-२ (लखनऊ)
६. रईस अहमद जाफरी (सम्पा०) : इफादात-ए-मोहम्मद अली
७. रईस अहमद जाफरी (सम्पा०) : निगारिशात-ए-मोहम्मद अली, भाग-१ (हैदराबाद, १९४४)
८. ,, ,, : मकालात-ए-मोहम्मद अली, भाग १-२ (हैदराबाद, १९४३)

अध्याय-५

१. रजिया फरहत बानु (सम्पा०) : खुतबात-ए-इकबाल (देहली, १९४६)
२. तसद्दुक हुसैन ताज (सम्पा०) : मजामीन-ए-इकबाल (हैदराबाद, १३६२ हि.)
३. शामलू (सम्पा०) : हर्फ-ए-इकबाल (लाहौर, १९४५)
४. सैयद अब्दुल वाहिद मईनी : बाकियात-ए-इकबाल (करांची)
५. शेख अताउल्ला : (सम्पा०) : इन्तखाब मकातीब (लाहौर, १९५८)
६. सैयद नजीर नियाजी (सम्पा०) : मकतूबात-ए-इकबाल (करांची, १९५७)
७. शेख अताउल्ला : (सम्पा०) : इकबाल नामा, भाग 1 (लाहौर)
८. मोहम्मद इकबाल : बांग-ए-दरा
९. ,, ,, : असरार-ए-खुदी
१०. ,, ,, : रमूज-ए-बेखुदी
११. प्रो० युसूफ सलीम चिश्ती : शरह बांग-ए-दरा (देहली)

अध्याय-६

१. महमूद अलहसन सिद्दीकी (सम्पा०) मजामीन अलबलाग (देहली, १९४४)
२. मोहम्मद रफीक मुरक (सम्पा०) मकालात अलहिलाल (लाहौर)
३. मुशताक हुसैन (सम्पा०) सिलसिला मजामीन मौलाना अबुल कलाम आजाद, नं० १-१४
४. अनवर आरिफ (सम्पा०) आज़ाद की तकरीरें (देहली, १९६१)
५. अब्दुल्ला भट (सम्पा०) : मकालात-ए-आज़ाद (लाहौर, १९४४)
६. सैयद सिफारिश हुसैन (सम्पा०) : मजामीन अबुल कलाम आजाद भाग-१ (देहली, १९४४)
७ बद्र-उल-हसन (सम्पा०) : मजामीन अबुल कलाम आजाद भाग-२ (देहली, १९४८)

८. अनीस अहमद जाफरी (सम्पा०) : मकातिबात अबुल कलाम आजाद (हैदराबाद, १९४८)
९. नसरुल्ला खाँ अजीज (सम्पा०) : मुलफ्जात-ए-अबुल कलाम आजाद (लाहौर)
१० शोरिश काश्मीरी (सम्पा०) : मुलफ्जात-ए-आजाद (लाहौर, १९४८)
११. मौलाना अबुल कलाम आजाद : तजकीरात-ए-आजाद (लाहौर)
१२. " " : गुब्बार-ए-खातिर (लाहौर, १९४६)
१३. गुलाम रसूल मेहर : नक्श-ए-आजाद, (लाहौर, १९५८)
१४ मोहम्मद उसमान फारक्लीत : अफकार-ए-आजाद (लाहौर, १९४५)

अध्याय–७

१. मुफ्ती गुलाम जाफर : इरशादात-ए-जिन्ना (लाहौर)
२ उसमान महराई : जिन्ना की तकरीरें (हैदराबाद, १९४५)
३ रफीक जकारिया : स्पीचेज ऑफ मोहम्मद अली जिन्ना (करांची)
४ मतलूब हसन सैयद : मोहम्मद अली जिन्ना (लाहौर, १९६२)
५ हैक्टर बोलिथो : जिन्ना (लंदन, १९५४)
६ रफीक अफजाल : स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स ऑफ जिन्ना (लाहौर, १९६६)
७ सी एच फिलिप्स : दी इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान (१८५८-१९४७) (ऑक्सफोर्ड प्रेस, १९६५)
८. खलीक उज्जमान : पाथ वे टू पाकिस्तान (लाहौर, १९६१)
९ मुस्लिम लीग : इण्डियाज प्रोब्लम ऑफ हर फ्यूचर कान्स्टिट्यूशन, (१९४०)
१० खालिद बिन सईद : पाकिस्तान-दी फोर्मेटिव फेज (लंदन, १९६८)

अनुक्रमणिका

८. अकील अहमद जाफरी (सम्प०) : मकालिमात अबुल कलाम आजाद (हैदराबाद, १९४४)
९. नसरुल्ला खाँ अजीज(सम्प०) : खुतबात-ए-अबुल कलाम आजाद (लाहौर)
१०. शोरिश काश्मीरी (सम्प०) : खुतबात-ए-आजाद (लाहौर, १९४४)
११. मौलाना अबुल कलाम आजाद : तसरीहात-ए-आजाद (लाहौर)
१२. ,, ,, : गुब्बार-ए-खातिर (लाहौर, १९४६)
१३. गुलाम रसूल मेहर : नक्श-ए-आजाद, (लाहौर, १९५८)
१४. मोहम्मद उसमान फारकलीत : अफकार-ए-आजाद (लाहौर, १९४५)

अध्याय–७

१. मुफ्ती गुलाम जाफर : इरशादात-ए-जिन्ना (लाहौर)
२ उसमान सहराई : जिन्ना की तकरीरें (हैदराबाद, १९४५)
३. रफीक जकारिया : स्पीचीज ऑफ मोहम्मद अली जिन्ना (कराची)
४ मतलूब हसन सैयद : मोहम्मद अली जिन्ना (लाहौर, १९६२)
५. हेक्टर बोलियो : जिन्ना (लंदन, १९५४)
६ रफीक अफजल : स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स ऑफ जिन्ना (लाहौर, १९६६)
७ सी. एच. फिलिप्स : दी इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान (१८५८-१९४७) (ऑक्सफोर्ड प्रेस, १९६५)
८. खलीक उज्जमान : पाथ वे टू पाकिस्तान (लाहौर, १९६१)
९ मुस्लिम लीग : इण्डियाज प्रोब्लम ऑफ हर फ्यूचर कान्स्टिट्यूशन, (१९४०)
१० खालिद बिन सइद : पाकिस्तान-दी फोर्मेटिव फेज (लंदन, १९६८)

अनुक्रमणिका

८. अकील अहमद जाफरी (सम्प०) : मकालिमात अबुल कलाम आज़ाद (हैदराबाद, १९४४)
९. नसरुल्ला खां अज़ीज(सम्प०) : खुतबात-ए-अबुल कलाम आजाद (लाहौर)
१०. शोरिश काशमीरी (सम्प०) : खुतबात-ए-आज़ाद (लाहौर, १९४४)
११. मौलाना अबुल कलाम आजाद : तसरीहात-ए-आज़ाद (लाहौर)
१२. „ „ : गुब्बार-ए-खातिर (लाहौर, १९४६)
१३. गुलाम रसूल मेहर : नक्श-ए-आजाद, (लाहौर, १९५८)
१४. मोहम्मद उसमान फारकलीत : अफकार-ए-आज़ाद (लाहौर, १९४५)

अध्याय–७

१. मुफ्ती गुलाम जाफर : इरशादात-ए-जिन्ना (लाहौर)
२ उसमान सहराई : जिन्ना की तकरीरें (हैदराबाद, १९४५)
३. रफीक जकारिया : स्पीचीज ऑफ मोहम्मद अली जिन्ना (कराची)
४ मतलूब हसन सैयद : मोहम्मद अली जिन्ना (लाहौर, १९६२)
५. हैक्टर बोलिथो : जिन्ना (लंदन, १९५४)
६ रफीक अफज़ल : स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स ऑफ जिन्ना (लाहौर, १९६६)
७ सी. एच फिलिप्स : दी इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान (१८५८-१९४७) (ओक्सफोर्ड प्रेस, १९६५)
८. खलीक उज़्ज़मान : पाथ वे टू पाकिस्तान (लाहौर, १९६१)
९. मुस्लिम लीग : इण्डियाज प्रोब्लम ऑफ हर फ्यूचर कान्स्टिट्यूशन, (१९४०)
१० खालिद बिन सईद : पाकिस्तान-दी फोर्मेटिव फेज़ (लंदन, १९६८)

अनुक्रमणिका

ग. जैन का जन्म १६२६ में हुआ।
ऊ विश्वविद्यालय से आधुनिक
में स्नातकोत्तर परीक्षा प्रथम श्रेणी
। करके पास की। १६५० ई०
र्म समाज कॉलिज, अलीगढ़ में
ीछे विभागाध्यक्ष की भांति
६२ ई० में आगरा विश्व-
ीगढ़ मूवमेंट' शोध-ग्रन्थ पर
धि प्रदान की गई। १६६२ ई०
। चार वर्षों के लिए त्रिभुवन
डर पद पर नियुक्ति की।
न्थ प्रकाशित हुआ। १६६६
चालय में इतिहास विभाग
ार्य कर रहे हैं। १६७२
। 'दी एमर्जेन्स आफ ए न्यू
प्रकाशित हुआ।